सहजानंद शास्त्रमाला

नियमसार प्रवचन अष्टम भाग

(परम आलोचना अधिकार एवं शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त अधिकार)

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 002

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक **'नियमसार प्रवचन अष्टम भाग'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यावहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें गाथा 107 से गाथा 121 तक के प्रवचन प्रस्तुत हैं ।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे । इसी ग्रन्थ की PDF फाइल http://is.gd/varniji साइड पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर, इन्दौर** एवं प्रूफ चेक करने में **श्रीमती प्रीति जैन,इन्दौर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा
53, मल्हारगंज मेनरोड़
इन्दौर (म०प्र०)
Phone-0731-2410880, 9753414796
Email-vikasnd@gmail.com
www.jainkosh.org

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।
मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।
सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।
होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, ’सहजानन्द’ रहूँ अभिराम।।
अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।
हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजानंद॰।।१।।
हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।२।।
आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।३।।

Table of Contents

प्रकाशकीय .... - 2 -

आत्मकीर्तन .... - 3 -

आत्म रमण .... - 3 -

गाथा 107 1

गाथा 108 10

गाथा 109 14

गाथा 110 21

गाथा 111 29

गाथा 112 36

गाथा 113 47

गाथा 114 55

गाथा 115 58

गाथा 116 62

गाथा 117 66

गाथा 118 68

गाथा 119 72

गाथा 120 76

गाथा 121 80

नियमसार प्रवचन अष्टम भाग

गाथा 107

णोकम्मकम्मरहियं विहावगुणपज्जयेहिं वरिदित्तं।

अप्पाणं जो झायदि समणस्सालोयणं होदि।।107।।

परमालोचना और उसका अधिकारी- जो प्राणी नोकर्म और कर्म से रहित, विभावगुणपर्याय से पृथक् आत्मा को ध्याता है, उस श्रमण के आलोचना होती है। इस अधिकार में आलोचना का वर्णन है। व्यवहार में लोग अपने पाप की आलोचना करते हैं, जैसे कि आलोचना पाठ में बहुत विस्तार से वर्णन है। निश्चय से आलोचना क्या कहलाती है? इसका वर्णन इस परम आलोचना अधिकार में किया जा रहा है। आत्मा का मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहना, सो तो है वास्तविक परमार्थव्रत और ज्ञाताद्रष्टा न रहकर किसी अन्य विभाव को उपभोग में उलझाना, वह है इसका अपराध। निश्चयापराध की आलोचना करना, सो परमालोचना है और व्यवहारिक अपराध की आलोचना करना व्यवहारालोचना है। अपने आत्मा का जैसा यथार्थ स्वरूप है, उस स्वरूप की दृष्टि करें तो सच्ची आलोचना होती है।

शरीर से विविक्त आत्मा के प्रकाश में सहज परम आलोचना- आलोचना का प्रयोजन है दोषों की शुद्धि करना। जो दोष कर रहे हैं, उन दोषों का निराकरण करना, इसका नाम आलोचना है। व्यवहार में जो लोग अपने गुरुजनों के पास जाकर अपराध की आलोचना करते हैं कि मुझसे यह अपराध हुआ तो यह व्यवहार आलोचना है और निश्चय से अपने आपके प्रभु को रुचिपूर्वक निरखें तो इसमें परम आलोचना हो जाती है। यह मैं शरीर से न्यारा हूं। यदि मैं शरीर ही होऊँ तो फिर मरना तब कहलायेगा, जब कोई जबरदस्ती आग लगा दे और जला दे, क्योंकि शरीर ही तो मैं हूं। जब तक कोई जलाये नहीं, तब तक उसका मरना न होगा, क्योंकि लोक में जिसे लोग मरना कहते हैं, उसमें भी शरीर तो पूरा बना हुआ है। इस कारण शरीर का नाम जीव नहीं है। जीव शरीर से पृथक् कोई स्वतन्त्र पदार्थ है।

एकक्षेत्रावगाही पर पदार्थों से भी आत्मा की विविक्तता- मैं शरीर से न्यारा हूं और कर्मों से न्यारा हूं। इस कथन में एक क्षेत्र में रहने वाले जो परपदार्थ हैं, उनका वर्णन चल रहा है। धन, मकान- ये तो प्रकट न्यारे हैं। ये मेरे आत्मा के साथ कहां चिपटे-फिरते हैं? आज जिस मकान में रह रहे हैं, उसे अपना मान रहे हैं; कल जिस मकान में रहेंगे, उसे अपना मान लेंगे। मरकर जहाँ जायेंगे, उसे अपना मान लेंगे। मकान-वैभव कहाँ चिपटे फिरते हैं? आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह में जो रह रहे हैं, उनकी बात सुनिये। पहिली चीज तो यह शरीर है। आत्मा जहाँ जाता है, भले ही किसी दिन छूट जाए, मगर जब तक सम्बन्ध है, तब तक तो आत्मा के साथ शरीर है, शरीर के साथ आत्मा है और एक क्षेत्र में रहने पर भी इस शरीर से मैं न्यारा हूं। फिर शरीर के बाद दूसरा नम्बर आता है परपदार्थों में कर्मों का। इन कर्मों से भी मैं न्यारा हूं। शरीर का नाम नोकर्म है और कर्म का नाम कर्म है। नो का अर्थ थोड़ा है याने कर्म के बाद दूसरा नम्बर आता है नोकर्म का। कर्म तो मरने पर भी साथ जाते हैं। नोकर्म नाम शरीर का है। शरीर यहीं रह जाता है, जीव चला जाता है। तो जीव के साथ जो कर्म बँधे हैं, वे कर्म भी चले जाते हैं, इसलिए कर्म अव्वल नम्बर की उपाधि है और शरीर द्वितीय नम्बर की उपाधि है, इसी कारण शरीर का नाम नोकर्म रखा है।

शरीरों का संक्षिप्त विवरण- शरीर 5 प्रकार के होते हैं- औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण। औदारिक शरीर मनुष्य व तिर्यंचों के होता है, वैक्रियक शरीर देव-नारकियों के होता है, आहारक शरीर ऋद्धिधारी प्रमत्त गुणस्थानवर्ती मनुष्यों के जब कोई तत्त्व शंका हो या चैत्यालयो की वंदना का भाव हो, तब प्रकट होता है। ये तीन शरीर भोग में आते हैं, पर जिनका भोग न हो, ऐसे ये दो शरीर हैं- (1) तैजस (2) कार्माण। भोग का अर्थ है, जिसमें इन्द्रियाँ लगी है, मन है इन्द्रिय और मन से कुछ प्रवृत्ति होती है, वह है भोग वाला शरीर। तैजस शरीर कहते हैं इन मिले हुए औदारिक और वैक्रियक शरीर में जो तेज पैदा करे, कांति पैदा करे, जिससे यह जाँच लेते हैं कि इस शरीर में तेज है और इस शरीर कुछ भी तेज नहीं रहा, यह मर गया, ठण्डा हो गया शरीर। तो जिस शरीर के न रहने पर यह औदारिक शरीर ठण्डा हो जाता है, उसे तैजस शरीर कहते हैं। यह तैजस शरीर भी मरने पर साथ जाता है। औदारिक, वैक्रियक यहीं रह जाता है। 5वाँ शरीर है कार्माण शरीर। कर्म और कार्माण दो अलग बातें नहीं हैं, किन्तु उन बँधे हुए कर्मों का शरीराकार निर्माण हो जाए तो उसका नाम कार्माण शरीर। जैसे ईंट और भींत। ईंटों का ही समूह भींत है, पर ईंट नाम तो सामान्य है, बिखरी पड़ी है तिस पर भी ईंट हैं, सभी अलग-अलग हों, तब भी ईंट कहते हैं, भींत में लगी हों, उन्हें भी ईंट कहते अगर ईंटों को जड़वाकर मकान के रूप में रख लें, उसे भी भींत कहते हैं। ऐसे ही कर्म और कार्माण शब्द हैं। भींत की तरह तो है कार्माण शरीर और ईंट की तरह मान लो कर्म। ये दोनों शरीर सूक्ष्म होते हैं। मरने के बाद कैसी ही मजबूत छत हो, काँच लगे हुए कितने ही आवरण हों, यह तैजस शरीर, कार्माण शरीर और जीव उसमें से निकल जाता है और उस भींत को या काँच को किसी तरह की आँच नहीं आती है। कितना सूक्ष्म यह जीव है? वह तो अमूर्त है ही, किन्तु तैजस कार्माण, पौद्गलिक होने पर भी सूक्ष्म है कि वज्र में से निकल जाये। इन पाँच प्रकार के शरीरों से रहित जो आत्मस्वरूप का ध्यान करते है, उसके परम आलोचना होती है।

कर्म का संक्षिप्त विवरण- कर्म 8 प्रकार के हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार आत्मा के गुणों का घात करने वाले हैं और इन चारों के काम में मदद दे सकें- ऐसे चार कर्म हैं- वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र। ये 8 प्रकार के द्रव्यकर्म हैं। कर्मों के बारे में सभी सिद्धान्तों के अपनी-अपनी कुछ कल्पना किया करते हैं, पर यह है कर्म, उसका यह रूपक है- ऐसा मैटर है जिसे विशद जानना आवश्यक है। कोई कहते हैं कि तकदीर की रेखायें खोपड़ी में खिची रहती हैं। मगर पड़ी हुई कोई खोपड़ी दिख जाये तो उसमें देखोगे कि कुछ रेखाएँ होती हैं। स्वाभाविक है कि उसमें बहुत रेखायें दिखें, तो उनको ही देखकर कुछ लोग कहते हैं देखो, यह तकदीर लिखी है। तकदीर खोपड़ी में नहीं लिखी होती, न कोई रेखा का नाम है। तकदीर कहो, भाग्य कहो, कर्म कहो किसका नाम है सुनिये।

कर्म की रूपरेखा- कर्म दो तरह के होते हैं- एक भावकर्म, एक द्रव्यकर्म। भावकर्म तो जीव जो परिणाम करता है, राग के द्वेष के, विकल्प के जिस प्रकार के परिणाम करता है, परिणामों का नाम है भावकर्म। और उन परिणामों के कारण लोक में भरी हुई जो सूक्ष्म कार्माण वर्गणाएँ हैं, पुद्गल वर्गणाएँ है, जो जीव के साथ भी लगी हुई हैं, उनमें ऐसी शक्ति का आ जाना कि वे जब उदय में आयें तो उनका निमित्त पाकर यह जीव विह्वल हो जायेगा, ऐसी शक्ति वाले सूक्ष्म पुद्गल का नाम है कर्म। उन कर्मों का रंग रूप यद्यपि सूक्ष्म है तो भी श्वेत बताया गया है। इसका प्रमाण यह है कि जब यह जीव शरीर को छोड़कर जाता है तो रास्ते में इसके रूप का वर्ण शुक्ल बताया गया है। जीव में तो रूप है नहीं। वह शुक्ल रूप किसका है। जो तैजस व कार्माण शरीर पिंड है, उसका वह शुक्ल रूप है। जैसे इस दृश्यमान पुद्गल में रूप, रस, गंध, स्पर्श होता है- ऐसे ही इस कामार्ण शरीर में, इन कर्मों में भी रूप, रस, गंध, स्पर्श होता है, किन्तु ये कर्म इतने सूक्ष्म होते हैं कि वज्र को, काँच को पार करते हुए चले जाते हैं। ऐसा यह मैं ज्ञानवरणादिक

अष्ट कर्मों से भी रहित हूं। यों कर्मों से भी रहित जो आत्मा का ध्यान करता है, उसके परम आलोचना होती है।

स्वभावदर्शन में परम आलोचना- यह आलोचना का पात्र ज्ञानी पुरुष अपने आपको दोषरहित अनुभव कर रहा है कि मुझमें किसी प्रकार का दोष नहीं है। यह दृष्टि स्वभाव की रख करके कही जा रही है। स्वभाव को निरखें तो स्वभाव में कोई दोष नहीं है। प्रत्येक पदार्थ स्वभावदृष्टि से शुद्ध हुआ करता है। स्वभाव ही अशुद्ध हो जाए तो फिर वह कभी शुद्ध हो ही नहीं सकता है। स्वभाव नहीं बिगड़ता है। पर की उपाधि के सम्पर्क में कुछ बाह्यवृत्ति बिगड़ जाती है। यों कर्म और नोकर्म से रहित आत्मस्वभाव को निरखने वाला ज्ञानी पुरुष परम आलोचना कर रहा है। व्यवहार की आलोचना गुरु से की जाती है और निश्चय से आलोचना अपने आपके स्वभाव के दर्शन में पूर्णरूप से बन जाती है। यह जिस दृष्टि में कहा जा रहा है, उस दृष्टि की परख बिना ये सब बातें अटपटी मालूम होंगी। क्या मुझमें कर्म नहीं हैं? क्या मुझमें विभाव नहीं है? अरे ! यह समस्त परपदार्थों की अपेक्षा छोड़कर निर्विकल्प आत्मा की जो सत्ता है, सत्ता को मुख्य करने वाला जो निश्चय द्रव्यार्थिकनय है, उसकी अपेक्षा से यह बात जानी जाती है।

निर्दोष अन्तस्तत्त्व के दर्शन से दोषनिराकरण- यह मैं आत्मा इन कर्मों और नोकर्मों से रहित आनन्दमग्न हूं, मेरे स्वरूप में दूसरे पदार्थ का स्वरूप नहीं घुसा है, मैं केवल अपने असाधारण चैतन्यस्वरूपमात्र हूं- इस तरह ये समस्त कर्म और शरीर से मुक्त अमूर्त ज्ञानप्रकाशमात्र अपने को निरखना परम आलोचना कहलाती है। यह अधिकार परम आलोचना का चल रहा है। अपने दोषों की कड़ी की आलोचना करना, जिसमें ये दोष फिर ठहर न सकें, इन दोषों को पूरा दण्ड देना, इसका नाम है परम आलोचना। दोषों का दण्ड दोषों से रहित अपने आपको निरखने में स्वमेव हो जाता है। ये दोष न रहें- ऐसा बनाना, यही तो दोषों का उत्कृष्ट दण्ड है। इस परम आलोचना में सर्वदोषों से रहित आत्मतत्त्व को निरखा जा रहा है। यों परपदार्थरूप कर्म और नोकर्म से रहित आत्मा को निरखता है। आत्मा में ही होने वाले विरूद्ध परभाव व विभावरूप परिणमन से भी भिन्न अपने आपको निरखने का उद्यम ज्ञानी करता है।

आलोचना के पुरूषार्थ में कार्यसमयसार व कारणसमयसार का ध्यान- जो पुरूष शरीर से रहित, कर्म से रहित और विभावगुणपर्याय से रहित आत्मा को ध्याता है, उस साधु के आलोचना प्रकट होती है। ध्यान से सुनने की बात है। इसमें ऐसे आत्मा का ध्यान किया गया है, जो शरीर से रहित है, कर्मों से रहित है, विभावगुणपर्यायों से रहित है- इन तीन विशेषणों में से दो जगह दृष्टि जाती है। सिद्धभगवान भी शरीर से रहित हैं, कर्मों से रहित हैं और विभावगुणपर्यायों से रहित हैं और अपने आपमें अनन्त विराजमान् जो चैतन्यस्वभाव है, वह स्वभाव भी ऐसा है कि शरीर से रहित है, कर्मों से रहित है और गुणपर्यायों से रहित है। ऐसे इस आत्मा का ध्यान करना, इसमें श्रमण के आलोचना होती है। इसमें भी विश्लेषण करके देखो तो परपदार्थरूप जो शुद्ध सिद्धात्मा हैं, उनके ध्यान में जो आलोचना होती है, उससे भी अभेदरूप आलोचना निज चैतन्यस्वभाव के ध्यान से होती है।

विभावगुणपर्याय की व्याख्या व ज्ञानगुण पर उसका उदाहरण- भैया ! विभावगुणपर्याय क्या है? इसके सम्बन्ध में इसका विवरण देखिये। विभावगुणपर्याय में तीन शब्द है- विभाव, गुण और पर्याय। विभाव का अर्थ है, जो स्वभाव नहीं है, किंतु किसी परोपाधिका निमित्त पाकर परिणमन हुआ है, उस परिणमन का नाम विभाव है। गुण नाम है पदार्थ की अनादि अनन्त शक्ति का। उस गुण की जो पर्याय है, उसका नाम गुणपर्याय है। जो गुणपर्याय विभाव है, उसका नाम विभावगुणपर्याय है। आत्मा में ज्ञान, दर्शन, आनन्द, श्रद्धा, चारित्र आदिक अनेक गुण हैं। उन गुणों का जो निरुपाधि परिणमन है, वह तो है स्वभावगुणपर्याय और उपाधि निमित्त को पाकर उन गुणों का जो परिणमन है, उसका नाम है विभावगुणपर्याय। जैसे ज्ञानगुण

के विभावपरिणमन हैं- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, कुअवधिज्ञान- ये 7 विभावगुणपर्याय हैं और केवलज्ञान स्वभावगुणपर्याय है। इसमें अन्तर इतना है कि मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्याय- ये चार तो हैं सम्यक्‌विभावगुणपर्याय, क्योंकि ये सम्यग्दृष्टि के होते हैं और कुमति, कुश्रुत, कुअवधि- ये हैं मिथ्याविभावगुणपर्याय, पर हैं तीनों विभावगुणपर्याय। क्योंकि मति, श्रुत के होने में भी कर्मों का क्षयोपशम निमित्त पड़ता है, उसमें देशघाती स्पर्द्धक का उदय है। जिसमें कर्मों के उदय का निमित्त पड़े, वह सब विभाव है। क्षयोपशमिक भाव में देशघाती स्पर्द्धक का उदय निमित्त होता है। जिसमें किसी भी प्रकार का रंच भी उदय निमित्त हो, वे सब विभावपर्यायें हैं।

दर्शन, श्रद्धा व चारित्रगुण पर विभावपर्यायों का उदाहरण- दर्शनगुण में चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन- ये तीन विभावगुणपर्यायें हैं और केवलदर्शन स्वभावगुणपर्याय है। श्रद्धागुण का मिथ्यात्व, सासादन, सम्यक्‌मिथ्यात्व- ये विभावगुणपर्याय हैं और औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व- इनमें दो तो स्वभावगुणपर्याय हैं, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी स्वभावगुणपर्याय हैं, किंतु वहाँ जो एक सम्यक्‌प्रकृति का उदय रहता है, जिससे चल, मलिन, अगाढ़ दोष होते हैं- ऐसा वेदक सम्यक्त्व सम्यक्‌विभावगुणपर्याय है। औपशमिक सम्यक्त्व भी कर्म के अभाव में नहीं है, कर्मों के उपशम में है, वह मिट जाता है, किंतु सम्यक् है, सो सम्यक् विभावगुणपर्याय है। इसी प्रकार अन्य गुणों में भी ले लो। जैसे चारित्रगुण में स्वभावगुणपर्याय तो अकषाय है, जो 26वें नम्बर पर कषायमार्गणा में आप लोगों ने पढ़ा है। कषायमार्गणा में और 25 जो कषाय है, ये चारित्रगुण के विभावगुणपर्याय हैं। यह ध्येयभूत आत्मा विभावगुणपर्यायों से रहित है।

परमतत्त्व का विभावव्यन्जनपर्याय से रहितपना- इस गाथा में विभावगुणपर्यायों से रहित है- ऐसा शब्द दिया है, पर जो विभावगुणपर्यायों से रहित है, वह विभावव्यन्जनपर्याय से भी रहित हो जाता है व होता है। ऐसी दृष्टि रखकर यह भी चौथा विशेषण समझना कि विभावव्यन्जनपर्याय से रहित आत्मा के ध्यान में आलोचना होती है। व्यन्जनपर्याय का अर्थ है जिस पर्याय का आकार से सम्बन्ध रहे। जैसे नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव- ये जो चार गतियाँ हैं, इन चार गतियों में शरीर को जो ढाँचा है, जिसे निरखकर हम यह जानते हैं कि यह मनुष्य है, यह मनुष्य है, यह तिर्यंच है इत्यादि, वह व्यन्जनपर्याय कहलाता है। क्रोध, मान, माया, लोभ- ये विभावगुणपर्याय हैं और मनुष्य, पशु, पक्षी- ये सब विभावव्यन्जनपर्याय है। यहाँ दो शब्दों पर ध्यान दो-गुण और व्यन्जन। क्रोध, मान आदिक के आकार नहीं होता। क्या किसी का क्रोध तीखा या चौखूटा आदि होता है? क्या किसी के मान, माया, लोभ आदि गोल-मटोल होते हैं अथवा लम्बे-चौड़े होते हैं? नहीं। गुणपर्याय में कोई आकार नहीं होता है, विभावव्यन्जनपर्याय में आकार होता है। यह पशु इतना लम्बा है, इतना चौड़ा है; यह पक्षी इतना लम्बा है, इतना ऊँचा है- इस तरह ऐसे व्यन्जनपर्याय में आकार होता है।

स्वभावव्यन्जनपर्याय- सिद्धभगवान के व्यन्जनपर्याय को स्वभावव्यन्जनपर्याय कहते हैं। उनके शरीर के आलम्बन से आकार नहीं निरखा जाता है, किन्तु जिस शरीर से वे मोक्ष गये हैं, उस शरीर प्रमाण ही अब वे रह गये हैं। न उससे हीन हैं, न उससे अधिक हैं। इसका कारण यह है कि जो मुनि जितने लम्बे चौड़े शरीर को छोड़कर मुक्त होता है तो जीव जो अपना लम्बा-चौड़ा आकार बनाता था, वह कर्मों के उदय से बनाता था, अब मुक्त होने पर कर्म तो रहे नहीं। तो जो भी आकार उसका आखिरी समय में था, वह आकार अब बतावो कैसे घटे या बढ़े। घटने का कारण भी कुछ नहीं है और बढ़ने का कारण भी कुछ नहीं है। जीव के आकार में घटने और बढ़ने का कारण कर्मों का उदय था, अब वह रहा नहीं। इस कारण जिस शरीर से मोक्ष गए हैं, उस शरीर प्रमाण उनका आत्मा रहता है। तो उस आकार में जो शुद्ध अमूर्त जीवद्रव्य का फैलाव है, वह है स्वभावव्यन्जनपर्याय और यह संसारावस्था में जो जीव का फैलाव है, वह है विभावव्यन्जनपर्याय।

परम आलोचना में शुद्ध शक्ति का आश्रय- जो पुरुष विभावव्यन्जनपर्याय से रहित परमात्मतत्त्व का ध्यान करता है, उस श्रमण के आलोचना होती है। स्वभावव्यन्जनपर्याय में भी जो चैतन्यस्वरूप का ध्यान करता है, उसके भी निश्चयालोचना होती है, पर अभेद निश्चयालोचना , परमालोचना तो जीव के आकार-प्रकार पर दृष्टि न देकर केवल एक शुद्ध शक्ति पर दृष्टि हो तो विशुद्ध परम आलोचना होती है।

गुण और पर्याय का दिग्दर्शन- गुण और पर्याय क्या हैं? इसे भी देखिए। कोई पदार्थ है, वह पदार्थ किसी स्वभाव को लिये हुए अवश्य है, क्योंकि पदार्थ में कुछ भी स्वभाव न हो तो वह पदार्थ क्या? पदार्थ का जो स्वभाव है, उसको यथार्थरूप में प्रतिपादन करने का कोई साधन नहीं है कि किसी को बता सकें कि पदार्थ का यह स्वभाव है। तब उस पदार्थ के स्वभाव को हम जिन-जिन परिणमनों में निरखते हैं, उन-उन कार्यों को बता-बताकर पदार्थस्वभाव के शक्तियों के रूप में जो हम भेद कर डालते हैं, उसे गुण कहते हैं। जैसे आत्मा में ज्ञानशक्ति है, दर्शनशक्ति है, आनन्दशक्ति है- ऐसे ही अनेक शक्तियाँ बताना, यह एक अखण्डस्वभाव को भेद करके बताने की बात है। तब जैसे स्वभाव पदार्थ के साथ शाश्वत रहता है, एक साथ रहता है, इसी प्रकार ये समस्त गुण ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदिक समस्त शक्तियाँ इस जीव में एक साथ रहती हैं। गुण तो सदा एक साथ रहता है, किन्तु पर्याय क्रम में रहती हैं। जैसे हम आप सबमें चारित्रगुण है तो चारित्रगुण की पर्याय क्रोध, माया, लोभ आदि अनेक हैं और कषायरहित भी चारित्रगुण की पर्याय है, किन्तु प्रत्येक जीव में एक समय में कोई एक बात होगी। क्रोध है तो मान, माया, लोभ आदि नहीं हैं, मान है तो क्रोध, मान, माया, लोभ नहीं हैं, तभी तो क्रोधी पुरुष को कषायस्थान बताना है तो उसके सभी क्रोधों को बता देंगे, पर मान, माया और लोभ को नहीं बता सकते। पर्यायें सब क्रम से हुआ करती हैं।

गुणपर्याय की अवश्यम्भाविता- इन समस्त गुणपर्यायों से भिन्न, किन्तु स्वभावगुणपर्यायों से सहित त्रिकाल निरावरण निरन्जन परमात्मा का जो ध्यान करता है, उस श्रमण के निरन्तर परम आलोचना चलती रहती है। यहाँ बताया गया है गुणपर्याय का विवरण। इसमें इतना और जानों कि जब विभावगुणपर्याय नहीं होता है, तब पदार्थ में स्वभावगुणपर्याय अवश्य है। कुछ भी विभावगुणपर्याय न हो, तब पदार्थ में स्वभावगुणपर्याय अवश्य है। कुछ भी गुणपर्याय न हो तो पदार्थ रह नहीं सकता। उल्टा परिणमे या सही परिणमे, कुछ न कुछ परिणमता रहे, तब तो पदार्थ है और कुछ भी परिणमन न हो तो वह पदार्थ नहीं है। तो जब विभावगुणपर्याय को न देखा या जिस पदार्थ में विभावगुणपर्याय नहीं है तो उसमें कैसा गुणपर्याय होता है, यह देखने चलें तो वहाँ स्वभावगुणपर्याय दृष्ट होती है।

स्वभावगुणपर्याय का अवलोकन- अब इस स्वभावगुणपर्याय को दो जगह देखो। सिद्ध में कैसा स्वभावगुणपर्याय है और हम आप सब जीवों में सहजस्वरूप का अवलोकन करें तो वहाँ कैसा स्वभावगुणपर्याय होता है? तो हम आप सबके इस सहजस्वरूप में, ज्ञानगुण में जो शुद्ध अर्थपरिणमन हो रहा है, षड्गुणहानिवृद्धि के कारण जो वहाँ अर्थपरिणमन हो रहा है, वह स्वभावगुणपर्याय है। सिद्ध के यह दोनों प्रकार का स्वभावगुणपर्याय चल रहा है- षड्गुणहानिवृद्धि के कारण होने वाले परिणमन और समस्त विश्व को एक साथ स्पष्ट जानने का परिणमन। वहाँ स्वभावगुणपर्याय से संयुक्त आत्मा को देखें तो भी आलोचना है और यहाँ स्वरूप में स्वभावगुणपर्याय से संयुक्त आत्मतत्त्व को देखें तो वहाँ भी आलोचना चलती है।

त्रिकाल निरावरण निरन्जन परमतत्त्व- यह मेरा परमात्मा त्रिकाल निरावरण है। जिस पर आवरण है, उसको नहीं निरखना है। आवरण होते हुए भी अन्तर में जो स्वरूपसत्त्व के कारण स्वभाव पड़ा हुआ है, उसे देखना है। तो यह त्रिकाल निरावरण है अर्थात् मेरे स्वरूप पर आवरण तक नहीं अर्थात् स्वभाव बदल न

सका, वही का वही रहा। वह स्वभाव व्यक्तरूप से शुद्ध परिणमन न कर सका, यह बात जरूर है, किंतु अभी तक यह नहीं कहा जा रहा है। स्वभाव तो स्वभावरूप में निरन्तर रहता है, यह कुछ अन्य नहीं बन जाता, यह बताया जा रहा है। सहज तत्त्व त्रिकाल निरावरण है अर्थात् आत्मा की यह शक्ति अबाधित बनी रहती है।

स्वभाव की शुद्धता- जैसे भगोनिया में पानी में रंग घोल दिया, रंग घोलने के बाद भी यद्यपि वह सारा पानी रंगीला हो गया है, लेकिन वहाँ पर तत्त्व दोनों मौजूद हैं। जो पुड़िया में सूखा रंग था, आधा तोला वह डाल दिया गया है ना पानी में। उस आधा तोला रंग के परमाणु पानी का आश्रय पाकर बहुत बिखरकर उस आकार में फैल गये हैं, फिर भी रंग उन-उन रंग के परमाणुवों में ही है, पानी में नहीं है और पानी में केवल वह पानी ही है। उसमें रंग डाल देने पर भी पानी का स्वभाव नहीं बदला, पानी का स्वभाव नहीं ढका। यद्यपि पानी का वह उज्ज्वलस्वभाव इस समय प्रकट नहीं है, न हो प्रकट, फिर भी पानी में पानी का स्वभाव तो प्रकाशमान् ही है। ऐसे ही इस ज्ञान के साथ राग-द्वेष, विषय-कषायों का रंग फैल गया है, फैल जाने दो, फिर भी विषय-कषाय इस आत्मा के ज्ञानस्वभाव में नहीं प्रवेश कर गये हैं। यद्यपि उन विषय-कषायों के प्रसार के कारण आत्मा का ज्ञानस्वभाव व्यक्त नहीं हो पा रहा है, न होने दो व्यक्त, फिर भी इस आत्मा में अन्त:प्रकाशमान् यह चैतन्यस्वभाव बराबर है। ऐसा यह स्वभाव, ऐसा यह कारणसमयसार त्रिकाल निरावरण है और त्रिकाल निरन्जन है। आवरण और अन्जन- ये दोनों परमतत्त्व हैं। आवरण से यहाँ अर्थ लेना कर्मों का। इस पर कर्मों का आवरण नहीं है। अन्जन से अर्थ लेना विषय-कषायों का। इस स्वभाव में विषय-कषायों का प्रवेश नहीं है। इस प्रकार त्रिकाल निरावरण और निरन्जन यह परमात्मतत्त्व है।

निज में परमात्मतत्त्व का दर्शन- भैया ! कहाँ खोजते हो इस परमात्मतत्त्व को जगह-जगह अन्यत्र? उसका दर्शन अपने आत्मा में मिलेगा। मूर्ति में मन्दिर के समक्ष जो हम परमात्मा की भक्ति करते हैं, वह एक आलम्बन है। यह बाह्य में स्थित मूर्ति ही स्वयं परमात्मतत्त्व नहीं है, किन्तु हम अपनी असक्त परिस्थिति में मन्दिर की मूर्ति का सहारा लेकर प्रथम तो हम उस स्वभावशुद्धपरिणमनरूप अरहंत सिद्ध परमात्मा का ध्यान करते हैं और फिर अरहंत सिद्ध परमात्मा का ध्यान करते हुए उनके विकास को सूक्ष्मदृष्टि से देखते हैं तो विकास और स्वभाव चूँकि वहाँ एकरूप हैं, इस कारण वह विकास की दृष्टि ओझल होकर केवल स्वभाव में उपयुक्त हो जाती है। और जैसे ही परमात्मप्रभु के स्वभाव में दृष्टि गयी कि तुरन्त ही वहां पर व्यक्ति भेद न रहकर अपने ही स्वभाव में यह बुद्धि लग जाती है। यों अपने में बसे हुए इस परमात्मतत्त्व की उपासना के लिए हम व्यवहार में मंदिर-मूर्ति इन सबकी उपासना करते हैं।

परमात्मतत्त्व के दर्शन का अमोघ साधन परमसमाधि- यह परमात्मतत्त्व त्रिकाल निरावरण और निरन्जन है। इसका ध्यान परमसमाधि के द्वारा हो सकता है। हमारा उपयोग जब परपदार्थों के विकल्प से रहित हो, एक निर्विकल्प परमविश्राम को प्राप्त किए हुए हो तो वहां समता का भाव प्रकट होता है। उस समताभाव से इस कारणपरमात्मतत्त्व का ध्यान बनता है। यह समताभाव , मन, वचन, काय- इन तीन क्रियावों के गोपने से होता है। यों तीन गुप्तियों में गुप्त किए हुए परमसमाधि के द्वारा जो परमश्रमण परमात्मतत्त्व का ध्यान करता है, उस भावमुनि के निरन्तर परम आलोचना होती रहती है। जिस समय इस परमसमाधि के द्वारा इस त्रिकाल निरावरण निरन्जन चैतन्यस्वरूप का ध्यान होता है, उस काल में सब वचनरचना खत्म हो जाती है। व्यवहार में गुरु के सम्मुख विनयपूर्वक बैठकर अपने अपराध की आलोचना तो वचनों से की जा सकती है, किन्तु परम आलोचना जो कि समाधिभाव के द्वारा निज परमात्मतत्त्व के ध्यान में होती हैं, उस आलोचना में वचनरचना काम नहीं देती है, बल्कि जब तक वचनरचना चलती है, तब तक परम आलोचना नहीं होती है। यों इस भाव श्रमण के सतत परम आलोचना होती है।

दोषदूरीकरण के लिए आलोचना की प्रधान आवश्यकता- आलोचना नाम है अपने वर्तमान दोषों को दूर करना। मनुष्यों में यह कमजोरी रहती है कि उनसे कोई दोष बन जाए तो वे अपने दोषों को जाहिर नहीं कर सकते। उन्हें यह भय है कि मैं अपने दोष दुनिया में जाहिर कर दूं तो मेरी इज्जत खत्म हो जाएगी, फिर इस लोक में मेरा जीना न बन सकेगा, सो वे दोषों को छुपाया करते हैं। इस लोक में जो श्रमण, जो ज्ञानी पुरुष अपने दोषों को दुनिया में प्रकट कर देते हैं, उनके धैर्य और साहस का अनुमान आप कर सकते हैं कि उनमें कितना ज्ञान है और कितनी विरक्ति है? दोषों को जाहिर करने से वे किए हुए दोष बहुत अंशों में तो जाहिर करने से ही समाप्त हो जाते हैं और फिर थोड़ा बहुत संस्कार रहता है तो उसका प्रायश्चित्त करने से वह समाप्त होता है, किन्तु दोषों को छुपाते रहने से दोष निकल नहीं सकते, दोष बढ़ते रहेंगे। आलोचना में अपने दोषों को प्रकट किया जाता है।

व्यवहार आलोचना और परमार्थ आलोचना- गुरु के समक्ष अपने दोषों को प्रकट करना व्यवहार आलोचना है, इससे दोष दूर किए जाते हैं और जो ज्ञानी श्रमण एक शुद्ध स्वभाव पर दृष्टि देकर अभेद उपासना में मग्न हो जाता है, उससे ये दोष तो स्वयं विदा हो जाते हैं। जिस समय ये सब दोष सहज ही विदा हो जाते हैं, उस समय उसके परम आलोचना कही गई है। ऐसे इस परम आलोचना के अधिकार में इस प्रथम गाथा में यह बताया गया है कि जो श्रमण शरीर और कर्मों से रहित, विभावगुणपर्याय और विभावव्यन्जनपर्याय से रहित आत्मा का ध्यान करता है, उस श्रमण के परम आलोचना होती है।

ज्ञानी की निजतत्त्व में रुचि- ज्ञानी पुरुष अपने आपमें चिंतन कर रहा है कि जितने भी ये भावकर्म हो रहे हैं- क्रोध, मान, माया, लोभ, विषयकषाय जो प्रवर्त रहे हैं, ये सब मोह के विलास से उठकर उदित हो रहे हैं। यह सब मेरा स्वरूप नहीं है। ऐसे उन समस्त भावकर्मों की आलोचना करके यह ज्ञानी पुरुष अपने में शिवसंकल्प करता है कि मैं अब इससे हटकर चैतन्यस्वरूप निष्कर्म आत्मा में आत्मा के द्वारा नित्य ही बर्तता हूं। जो अपनी चीज है, उससे प्रेम करना चाहिए। पर की वस्तु से क्या प्रेम करना?

अभिमत निज में रुचि का लोकदृष्टान्त- जैसे लोक में मोही पुरुषों ने जिन्हें अपना नहीं माना, गैर माना, उनसे नेह नहीं मानते, किन्तु परिजनों में जिनमें अपनी कल्पना कर रक्खी है, उनसे स्नेह करते हैं। वही पुरुष कुछ प्रसंगवश इन परिजनों से भी हटता है। कोई परिवार का सदस्य कषाय के अनुकूल न रहे, उनमें मन न रहे तो वह परिजनों से हटता है, उन्हें गैर मानता है और अपने शरीर को अपनी चीज मानता है, तक वह कुटुम्ब से हटकर अपने शरीर में लगता है।

धर्मक्षेत्र के प्रसंग में रुचि का विषय- भैया ! कभी सत्संग हुआ, कुछ ज्ञानी की वार्ता सुनी तो कुछ बोध हुआ कि शरीर भी मिट जाने वाला है। यह मैं नहीं हूं, यह पर चीज है। जब शरीर को भी पर जानने लगा मोटेरूप से तो शरीर से भी हट गया और व्रत, उपवास, कार्यक्लेशों को अपना समझने लगा। अब अपने को व्रत करना, कल्याण का काम करना- इस ओर धुन लग गई है। अब उसे नाम निक्षेपत: समझ लीजिए और आत्मकल्याण की धुन लग गई है। अब आत्मकल्याण की इच्छा से संगति ज्ञानाभ्यास अनेक कार्यों को करते हुए जब यह ध्यान में आता है कि अहो, ये राग, द्वेष, वितर्क, विचार मोहनीय कर्मों के उदय से उत्पन्न होते हैं, यह मैं नहीं हूं, मैं तो एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूप हूं, जब यह प्रतिबोध होता है तो उन रागादिक विभावों से हटकर एक चैतन्यस्वरूप अपने आत्मा में वर्तने की धुन बनाता है। एक शुद्ध ज्ञानप्रकाश तो निष्कर्म तत्त्व है, इसमें क्रियाचेष्टा नहीं है और न किसी प्रकार का दोष है। इसके अतिरिक्त जितने भी विषयकषायों के परिणाम हैं, इनमें कर्म बसे हुए हैं। उन सब कर्मों से हटकर मैं इस निष्कर्म चैतन्यस्वरूप में बर्तता हूं। यह निश्चय आलोचना की बात कही गई है, अब व्यवहारचारित्रविषयक एक प्रक्रिया को देखिये।

व्यवहार आलोचना के अवसर- यह जीव आत्मशुद्धि के लिए अपने जीवनभर व्रत, तप, संयम की खूब साधना करता है और उन साधनावों में जब जैसा जो कुछ करना चाहिए आगम के अनुकूल, वे सब साधन किए जाते हैं। जब अन्तिम समय होता है, मरण सन्निकट होता है, उस समय यह जीव क्या करता है? निष्कपट होकर अपने जीवनभर जो भी इससे बना है पाप का कार्य या दोष, चाहे वह खुद किया हो, चाहे कराया हो, चाहे समर्थित किया हो याने उसका समर्थन किया हो, उन समस्त पापों की यह आलोचना करता है। इस जीव ने जीवन में रोज-रोज आलोचना की है और प्रत्येक पक्ष की समाप्ति के दिन आलोचना की और चार-चार मास गुजरने के बाद भी आलोचना की, पूरा वर्ष गुजरने के बाद पूरे वर्षभर की आलोचना की। कितने ही बार जब भी दोष किया, तब रोज-रोज आलोचना की। 15 दिन तक जो दोष हुए, उनकी पुन: आलोचना की, फिर चार महीने में एक साथ उन सबकी आलोचना की, फिर वर्षभर के दोषों की आलोचना की। एक ही दोष को वह चार बार बता चुका, लेकिन अब मरणकाल आया है तो जन्म से लेकर उस समय तक के जितने भी दोष हैं, उन सबकी फिर से आलोचना करता है।

ज्ञानी का स्वच्छ हृदय- ज्ञानी पुरुष कैसा स्वच्छ हृदय का होता है कि उसे उस लौकिक यश, अपयश की परवाह नहीं है। कोई क्या कहेगा कि उसे इसकी चिंता नहीं है, किन्तु स्वयं में अपना कल्याणमार्ग सही बने, इसी की परवाह है। ऐसे पुरुष मरणकाल में समस्त जीवन के दोषों की आलोचना करके फिर अन्त तक के लिए महाव्रत को धारण करते हैं अर्थात् सर्वपरिग्रहों का, पाप का परित्याग करते हैं।

स्वदोष आलोचना का महत्त्व- जो पुरुष अपने दोषों की आलोचना ही नहीं करते, उनके दोष कैसे छूटेंगे? कितने ही व्यामोही जीव तो ऐसे विपरीत होते हैं कि वे दोषों में ही चतुराई मानते हैं, दोषों को दोष भी नहीं समझते हैं, जबकि बड़े ज्ञानी, विवेकी सकलसंयमी साधुजन अपनी व्रत-तपस्यावों में की जाने वाली चेष्टावों को पर मानते हैं। लोग लालायित होकर व्रत करते हैं, तप करते हैं, जाप करते हैं, सामायिक करते हैं, स्वाध्याय भी करते हैं, किंतु साधु पुरुष उन क्रियावों को करते हुए यह जानता है कि यह भी एक अपराध है, यह आत्मा का गुण नहीं है, किंतु बड़े अपराध से बचने के लिए छोटा अपराध भी कुछ मंजूर कर लिया जाता है। जैसे हजार रुपये का दण्ड हुआ हो और किसी तरह से दस रुपये ही दण्ड के रह जायें तो वह 10) दण्ड के खुश होकर दे रहा है, पर भीतर में यह श्रद्धा है कि यह भी दण्ड है, यह भी न देना पड़ता तो भला था। ऐसे ही यह व्रती, ज्ञानी, साधु पुरूष समितिपूर्वक चलना, समितिसहित आहार लेना, समिति से बोलना, जीवों पर दया करना, संयम से रहना, शुद्ध आचरण रखना, आरम्भ परिग्रह न करना- इन सब बातों को कर रहा है, पर यह सब कुछ करते हुए भी यह जानता है कि यह भी अपराध है। मेरा कार्य तो सर्वथा शुद्ध निर्विवाद वह है, जो सिद्धप्रभु किया करते हैं। जो सिद्धभगवान् नहीं कर रहे हैं, वह सब यदि कर रहा हूं तो अपराध है। कोई बड़ा अपराध होता है, कोई बड़े अपराध को मेटने की गरज से छोटे अपराध होते हैं। तो दोषों को दोष समझ लेना- यह भी धर्मपालन है।

परमार्थ कला- भैया ! अपने में गर्व न आने दो। मैं बहुत कलाएँ समझता हूं, धन भी अच्छा कमाता हूं, व्यवहार भी मैं इतना बढ़िया करता हूं, जो सबसे नहीं बन सकता है इत्यादि किसी भी प्रकार की चतुराई का गर्व न आना चाहिये, क्योंकि इस लोक में जितनी भी चतुराई हैं, वे सब दोष हैं, अपराध हैं, ये वास्तव में कलाएँ नहीं हैं। वास्तविक कला अरहंत और सिद्धप्रभु में जागृत हुई है। सारा विश्व जिसके ज्ञान में आ रहा है, किंतु रागद्वेष रंच भी न हो, वह है वास्तविक कला। जो कला शुद्ध आनन्द को प्रकट करे, वह तो है ठीक कला और जो किसी प्रकार का अन्धकार बनाए, दोष बनाए, भ्रम में डाले, संसार में रुलाये, वह कला ही कला नहीं है। अपने इस निष्कर्म चैतन्यस्वरूप की दृष्टि करना, यही एक परमार्थभूत हितकारी कला है।

ज्ञानी का साहस और प्रक्रम- अज्ञानी पुरुष अपने दोषों को एक बार भी मुख से नहीं प्रकट करना चाहते, किंतु यह ज्ञानी बार-बार उन दोषों की आलोचना करता है। अज्ञानी जन जिन्हें पुण्य का कारण मानते हैं, ज्ञानी उन्हें संसार विषवृक्ष का कारण मानता है और जिन्हें लोग पाप कहते हैं, वे तो संसार विषवृक्ष का कारण हैं हीं। ऐसे इस घोर संसार के जड़रूप जो पुण्य और पाप के कार्य हैं, उन सब कार्यों को आलोचित कर करके यह मैं स्वाभाविक शाश्वत शुद्ध आत्मा को अपने आत्मा के द्वारा ही आलम्बता हूं- ऐसी भावना यह ज्ञानी पुरुष कर रहा है।

मोह, माया और विवेक- भैया ! एक इस निजतत्त्व से हटे कि सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार है। जैसे स्वप्न में देखी हुई बात स्वप्न में सच मालूम होती है, यों ही मोह-कल्पना में की गई बात सब सच मालूम होती है। किंतु जैसे जिसकी नींद खुल गयी है, वह स्वप्न में देखी हुई बात को झूठ समझ बैठता है- ऐसे ही जिसने निज ज्ञानस्वरूप का प्रकाश पाया है, जिसके नेत्र खुल गए हैं, जब ज्ञान ज्ञान को जानने लगा है, उस समय यह ज्ञानी जानता है कि ओह, सारी प्रवृत्तियाँ, ये समस्त सम्बन्ध झूठे हैं और मायारूप हैं।

यथार्थ आराम का उपाय- भैया ! लोग चाहते हैं कि मुझे आराम मिले, पर आराम वास्तव में है कहाँ? आराम धनसन्चय से नहीं मिलता, आराम लौकिक-सम्पदा की व्यवस्था में नहीं मिलता, आराम अपने इष्टजनों से प्रेमपूर्ण वार्तायें करने से नहीं मिलता, आराम इन्द्रिय के विषयों की साधना करने से, इन्द्रिय-विषयों को पोषने से नहीं मिलता। मिलता हो तो अनुमान कर लो। आराम तो अपने शुद्ध स्वभाव के दर्शन में मिलता है। आराम में बाधा डालने वाले राग और द्वेष हैं। ये रागद्वेष न रहें तो आराम सामने है। जब तक राग और द्वेष की वृत्ति उठ रही है, तब तक आराम नहीं है। मान लो हजारों का धन सन्चय कर लिया है और उसे कुछ आराम मान लिया है, पर थोड़ी ही देर बाद किसी विपदा में पड़ गए तो कहाँ रहा आराम? सांसारिक सुख में तो सारे दुःख ही दुःख भरे हुए हैं। किसमें मौज मानी जाए? आराम तो वास्तव में एक शुद्धस्वरूप के ज्ञान करने में है, किंतु मोही जीव आराम के खातिर परपदार्थों के सन्चय के लिए तन, मन, धन, वचन सब कुछ समर्पण कर देते हैं, किन्तु जो एक सही मार्ग है, सही निधि है, उस ज्ञानदृष्टि के लिए आलसी बना हुआ है, कंजूस बना हुआ है, ज्ञानवृत्ति बनाने का साहस भी नहीं लाता है, उस ओर दृष्टि भी नहीं करता है।

ज्ञानी का आलम्बन और विलास- यह ज्ञानी पुरुष इन दोषों की आलोचना कर-करके अपने आत्मा का अवलम्बन लेता है। इस परम आलोचना के प्रसाद से द्रव्यकर्मरूप सारी प्रकृतियों का अत्यन्त विनाश हुआ है। ये प्रकृतियाँ संक्षेप में 148 प्रकार की हैं। उन समस्त कर्मप्रकृतियों को नष्ट कर दिया है और इसके प्रसाद से अनुपम ज्ञानलक्ष्मी को प्राप्त करता है, जो सहज विलास कर रही है। सारे विश्व को सुगमतया निरन्तर जान रहा है- ऐसे ज्ञान को प्राप्त करता है।

आत्मदया का अनुरोध- निज में और पर में, निज की ओर के झुकाव में और पर की ओर के झुकाव में मूलस्थान में जरा सा अन्तर है। उपयोग भीतर की ओर न रहा तो इस भीतर से कुछ बाहर की ओर चला गया, किन्तु फिर इस बाह्य उपयोग की दौड़ इतनी तेज हो जाती है शीघ्र ही कि जिसके फल में सब विडम्बनाएँ बन जाती हैं। अपने आप पर परमार्थ दया कीजिए। यह कुटुम्ब ही सब कुछ नहीं है। सब कुछ क्या? ये दूसरे कुछ भी नहीं हैं, ये परिजन, ये धन-सम्पदा कुछ भी नहीं है। शान्ति का जिस किसी प्रकार उदय हो सकता हो, वह तो तेरा सत्पथ है और जिसमें अशान्ति ही बसी हुई है, वह सब कुमार्ग है। जरा दृष्टि पसार कर भी निहारो, जो आज की दुनिया में प्रसिद्ध लोग हैं। सेठ, अधिकारी, नेता- इनकी ओर दृष्टि देकर देख लो, कहां शांति विराज रही है? इस जीवन में भी जो सर्वस्व मानकर अपनी वृत्ति कर रहे

हैं, उनका इस जीवन के बाद फिर कौन सहाय होगा? यदि अपने ज्ञानस्वभाव को लिया जाए तो यह ज्ञानसंस्कार अगले भव में भी सहायक होगा।

आत्मसंस्कार के लाभ का उदाहरणपूर्वक समर्थन- जैसे जो इस भव में उत्पन्न हुआ है, वह बालक कभी कभी बचपन से ही बड़ी कला लिए हुए, चतुराई लिए हुए, थोड़ा भी अध्ययन करे तो बहुत सीख जाए- ऐसा विलास लिए हुए होता है। उस बच्चे ने यह कला कहां से पाई, यह ज्ञानसिद्धि कहां से पाई? बतावो। यह उसके पूर्वजन्म की कमाई है। पूर्वजन्म में ज्ञानसंस्कार पाया, धर्मपालन किया, वह संस्कार आज देखो 2-4 वर्ष के बालक के भी कितनी विशाल एक निधि उत्पन्न कर रहा है? कोई बालक करोड़पति के घर पैदा हो गया, वह भी करोड़पति बन गया। उसने कहां धन कमाया है, कैसे करोड़पति बन गया? अरे, यह सब पूर्वजन्म की करनी का प्रताप है। वहां उदारता की, त्याग किया, दान किया, सम्यग्ज्ञान रखा, उस सबका जो ज्ञानसंस्कार बना, उसका यह प्रताप है। तो यहां की बात देखकर भी यह ध्यान में नहीं लाया जाता कि यदि अच्छे ढंग से, उदारता से, विवेक से अपना जीवन चलाया तो यह आगे भी काम देगा। यह सम्बन्ध, यह स्नेह, यह अन्धेरा काम न देगा, इस कारण सब कुछ प्रयत्न करके एक इस ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व के दर्शन में, वैराग्य में लगा जाए। विश्वास बनाया जाए कि मेरा यहाँ संसार में कुछ भी नहीं है तो ये विपत्तियाँ फिर कैसे हो सकती हैं।

खोना, कमाना- जो पुरुष ज्ञान और वैराग्य से वासित नहीं हैं, उन्होंने सब कुछ खोया है, कमाया कुछ नहीं है। जिसने चारित्र स्वरक्षित रखा है और धन खोया है, उसने कुछ नहीं खोया, उसने पाया ही सब कुछ है। इस सबका कारण यह है कि जिसने अपना चारित्र खोया है और धनसन्चय बनाया है तो ज्यादा से ज्यादा इस जीवनकाल तक कल्पित मौज मान लिया, मरण होने पर बाद में एकदम साफ न्याय हो जाएगा। उसने सब कुछ खो दिया, जिसने अपने श्रद्धान्, ज्ञान और चारित्र को खोया है। उसने सब कुछ पा लिया, जिसने अपना श्रद्धान्, ज्ञान और चारित्र पाया है।

आलोचना और आलम्बन- यह ज्ञानी संत अपने आपके समस्त दोषों की आलोचना करके शिवसंकल्प कर रहा है कि मैं अब इस चैतन्यात्मक शुद्धआत्मा को आत्मदर्शन के द्वारा आलम्बन करता हूं। यों इस आलोचना अधिकार में प्रथम गाथा में कहा गया है कि जो साधु नोकर्मों से रहित, कर्मों से रहित, विभावगुणपर्यायों से रहित, विभावव्यन्जनपर्यायों से रहित आत्मतत्त्व का ध्यान करता है, उस श्रमण के आलोचना प्रकट होती है।

गाथा 108

आलोयणमालुन्छण वियडीकरणं च भावसुद्धी य।
चउविहमिह परिकहियं आलोयणलक्खणं समये ।।108।।

आलोचना के लक्षणरूप भेद- आलोचना का स्वरूप कहने के प्रसंग में इस गाथा में आलोचना के भेद कहे गये हैं। आलोचना का पूर्णरूप जानने के लिये आलोचनाविषयक चार लक्षणों को जानना चाहिये। वे चार लक्षण हैं- आलोचन, आलुंछन, अविकृतिकरण और भावशुद्धि। ये भेद शुद्ध निश्चय परम आलोचना के कहे गये हैं। इनका लक्षण आगे की गाथावों में कहा ही जाएगा, पर संक्षेपरूप से यों समझ लो कि अपने समस्त दोषों को सूक्ष्मरीति से देख लेना आलोचन है। गुरुवों के समक्ष अपने दोषों का निवेदन करना, यही है व्यवहारआलोचना। अपने दोषों का आलुंछन कर देना, उघाड़ देना, इसका नाम है आलुंछन। अपने को विकाररहित कर देना, इसका नाम है अविकृतिकरण और अपने भावों को शुद्ध कर देना, इसका नाम है भावशुद्धि।

दिव्यध्वनि की परम्परा से सत्यार्थ का आगमन- ये चार भेद सारभूत आत्मा के हितकारी प्रकरण को करने वाले हैं। इनका वर्णन आगमपरम्परा से आया है। आगम का अर्थ है आगमन। जो भगवान अरहंत की दिव्यध्वनि की परम्परा से चला आया हो, उसे आगम कहते हैं। आज जितने भी शास्त्र हम आप श्रद्धापूर्वक देखते हैं, उन सब शास्त्रों में जो अर्थ भरा हुआ है, वह अर्थ मूल में भगवान् की दिव्यध्वनि से चला आया है। भगवान् अरहंतदेव जिनके चार घातियाकर्म नष्ट हो गए हैं, जो सर्वज्ञ वीतराग हो चुके हैं, उनके मुख-कमल से जो कुछ दिव्यध्वनि निकलती है, उस ध्वनि की परम्परा से यह समस्त आगम चला आया है।

दिव्यध्वनि की सर्वप्रियता- प्रभु की दिव्यध्वनि समस्त श्रोताजन-समूह को बहुत प्रिय होती है। यहां भी जब दिव्यध्वनि खिरती थी, उस समय श्रोताजन उस दिव्यध्वनि को सुनकर समस्त चिंतावों को दूर कर लेते थे। समवशरण की ऐसी महिमा गायी है कि वहाँ पहुंचने वाले जीवों पर कोई संकट नहीं रहता है। जहाँ ऐसा निर्मल पवित्र सर्वज्ञ परमात्मा विराज रहा हो, उसके निकट कोई पहुंचे और उसके कोई संकट रह जाए, यह नहीं हो सकता है। भगवान् अरहंतदेव जहाँ विराजे हुए हैं, उनके सौ-सौ योजन चारों तरफ सुभिक्ष हो जाता है, कोई रोग नहीं रहता है, सर्वप्रकार की सम्पन्नता प्रजा में हो जाती है। फिर समवशरण के निकट जो पहुंचे, समवशरण में जो पहुंचे, उसे कोई चिंता कैसे रह सकती है?

भ्रम से चिन्ता की बनावट- भैया ! चिंता तो अब भी जीव को कुछ नहीं है, किंतु भ्रम में कल्पना करके चिंता बना ली है। परपदार्थों से इस आत्मा का क्या सौदा है? पर की परिणति से आत्मा परिणमता नहीं। आत्मा जहां जाए, वहां यह परपदार्थ पहुंच जाए- ऐसा कुछ नियम नहीं है। आत्मा चेतन है और ये सब समागत पदार्थ अचेतन हैं। क्या वास्ता है इन परपदार्थों से इस आत्मा का? लेकिन भ्रम ऐसा विकट बन रहा है अज्ञान से इस जीव का कि यह पर से अपनी भलाई समझता है। मैं बहुत धनी होऊँ तो सुख मिलेगा, उससे ही मेरा भला होगा- ऐसा लोग सोचते हैं। अरे, परपदार्थों के विचार-विकल्प से बुरा ही हो जाएगा, समागम की बात तो दूर रही। स्वयं में कुछ भी चिंता की बात नहीं है, लेकिन भ्रम में इस जीव ने चिंतावों का पहाड़ बना लिया है। मेरे पास इतना वैभव हो, तब मैं कुछ कहला सकूँगा। अरे, इतना वैभव न हो, आधा हो तो? और मनुष्य ही तुम न होते, कोई कीट-पतंगे होते तो वैभव के नाम का भी कुछ तेरे पास होता क्या? प्रकट आसार हैं सर्वसमागम, लेकिन अज्ञानी प्राणी उनकी चिंता में कितने आकुलित हुए जा रहे हैं?

संकटहारी समवशरण- भगवान् के समवशरण में जहाँ धर्म का ही व्याख्यान है, प्रचार है, सैकड़ों, हजारों विशुद्ध मुनि जनों के दर्शन हो रहे हैं, परमौदारिक शरीर की कान्ति से झलझलाता हुआ समवशरण है, बीच में साक्षात् सकल परमात्मा के दर्शन हो रहे हों- ऐसा सुन्दर अवसर पाकर कोई मनुष्य दु:खी रह जाए, यह कैसे हो सकता है? जिस मनुष्य में मिथ्यात्व भरा है, दु:खी ही रहने का जिसने अपना विरद ठान लिया है, उस पुरूष को समवशरण में पहुंचने का भाव भी नहीं हो सकता है। अरहंतदेव की दिव्यध्वनि एक अनुपम विशिष्ट आनन्द को झराने वाली हैं।

विषय-सुख का कटु विपाक- भैया ! विषय-सुख में कहां आनन्द भरा है? अपनी शक्ति बरबाद कर रहे हैं ये विषयसुख के लोभी जीव। अपना ज्ञानबल खो रहे हैं बहिर्मुग्ध प्राणी। इन विषय-सुखों में कहां मौज है? जो विषय-सुखों में मौज मानते हैं, उनकी अवश्य दुर्गति होती है, क्योंकि विषय-सुखों में आसक्त होकर यह मोही लग जाता है और उसमें फल में इसी जन्म में अनेक कष्ट आते हैं। जब ज्ञानबल घट जाता है तो उसे लोग पग-पग पर दबा सकते हैं। इसी जन्म में धन की हानि, बल की हानि आदि अनेक नुकसान होते हैं। कर्मबन्धन तो खोटा होता ही है, इसके फल में परलोक में नरकगति मिलेगी, खोटी तिर्यंचगति मिलेगी

और कुयोनियों में भटकना होगा। अपना यह निर्णय रखे कि ये विषय-सुख भोगते समय बड़े ही मनोरम लगे, लेकिन ये अपने को बरबाद करने वाले हैं, इनमें आनन्द कहां रखा है? जैसे मीठे विषफल खाने में तो बड़े मधुर लगते हैं, स्वादिष्ट लगते हैं, पर उनके खाने का परिणाम मरण है। ऐसे ही पंचेन्द्रिय के विषयों के सुख इन मोही जीवों को बड़े मधुर लग रहे हैं, पर ये विषय-सुख मीठे विषफल हैं। इनका फल क्या होगा? इसी भव में दुर्गति होगी और परभव में दुर्गति होगी।

आनन्द का धाम- आनन्द तो एक आत्मस्वरूप के यर्थाथ प्रकाश में है, क्योंकि यह आत्मा ही स्वयं आनन्दस्वरूप है। आनन्दस्वरूप आत्मा के दर्शन में आनन्द ही झरता है। इस आनन्दस्वरूप आत्मा की बात, इस आत्मा के हित की बात प्रभु की दिव्यध्वनि की परम्परा से चले आए हुए आगम से विदित होती है।

प्रभुकी निरीह अनक्षरात्मक दिव्यध्वनि- यह दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक है, फिर भी श्रोतावों के कानों में पहुंचकर अनक्षरात्मकता का रूप रखकर मानो सबको हित की शिक्षा देती है। भगवान् की यदि अक्षरात्मक वाणी हो, हम आप जैसे बोलते हैं- ऐसी भाषा उनकी हो तो इस तरह के क्रमपूर्वक बोलने में रागद्वेष की सिद्धि होगी। किसी ने कुछ पूछा, किसी ने कुछ सबका उत्तर दें, अपना व्याख्यान करने लगें- इस तरह की प्रक्रिया में कुछ न कुछ राग की बातें हो जायेंगी। भगवान् किसी के प्रश्न का उत्तर नहीं देते हैं। उनकी तो समय पर दिव्यध्वनि खिरती है। भले ही कोई विशिष्ट पुण्य आत्मा, चक्री आदि असमय में आ जाए तो असमय में भी दिव्यध्वनि खिर सकती है, किन्तु वहां भी वे वीतराग हैं, वे अपनी ओर से विकल्प करके दिव्यध्वनि नहीं खिराते हैं, किन्तु जैसे मेघ असमय में अपनी इच्छा से गरजते हैं- ऐसे ही वे भगवान् तो अपने आनन्द में ही मग्न रहते हैं, पर दिव्यध्वनि स्वयं ही खिरती है। वह दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक है। देव, शास्त्र, गुरु की पूजा में आप लोग पढ़ते हैं कि ''जिसकी धुन है ॐकार रूप, निरअक्षरमय महिमा अनूप।''

दिव्यध्वनि में सर्वभाषात्मकता का अतिशय- इस ॐकार की निरन्तर गर्जना में अनक्षरात्मकता ध्वनित होती है, जिसमें मानों सभी अक्षर पड़े हुए हैं। जैसे ॐकार शब्द को लिखकर इसके कई टुकड़े बनाकर विधिवत् उन्हें रखने से समस्त अक्षरों को आप देख सकते हैं। जितने स्वरव्यन्जन हैं, उन्हें ॐ के अवयवों को विधिपूर्वक लगाकर आप दिखा सकते हैं। जैसे आजकल कुछ ऐसे छपे हुए चौकोर खिलौने आते है कि जिनको किसी विधि से लगावो तो ऊँट बन जाए और किसी अन्य विधि से लगावो तो घर बन जाए। ऐसे ही ॐ शब्द का जो आकार है, उसके छोटे अंश कर लो, न ज्यादा छोटे और न ज्यादा बड़े, फिर उन अवयवों से तुम समस्त अक्षर बना सकते हो। ऐसे ही भगवान् की दिव्यध्वनि में जो भी शब्द निकलते हैं, वे अनक्षरात्मक होते हैं, फिर भी मानों उनमें समस्त अक्षर भरे होते हैं। समवशरण में एक अतिशय यह भी होता है कि वहां किसी भी भाषा के लोग पहुंचे, हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी, पन्जाबी, कन्नड़, तैलगू, अरबी, फारसी इत्यादि किसी भी भाषा वाले वहां पहुंचे तो दिव्यध्वनिरूप उपदेश सबको अपनी अपनी भाषा में अपनी-अपनी योग्यता से समझ में आ जाएगा।

अनन्त दिव्यध्वनियों में स्वरूपप्रणयन की समानता- प्रभु की दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक होती है। उस दिव्यध्वनि के जानने में कुशल चार ज्ञान के धारी गणधर होते हैं। वर्तमानकाल में जो आगम प्राप्त है, वह भगवान् महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि की परम्परा से प्राप्त हुआ है। जितने भी तीर्थंकर हुए हैं, सबकी

दिव्यध्वनि में एक ही वर्णन है। एक तीर्थंकर का तीर्थ चलने के कुछ समय बाद फिर धर्म की कुछ हानि होने लगती, उस समय फिर कोई तीर्थंकर उत्पन्न होता है और जब वे सयोगकेवली बनते हैं तो उनकी दिव्यध्वनि खिरती है। उस दिव्यध्वनि में वही वस्तुस्वरूप का यर्थाथ प्रतिपादन है, जो अनन्त तीर्थंकरों ने अपनी दिव्यध्वनि में बताया है।

गणेश का समर्थ ज्ञान- भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि का परिज्ञान करने में कुशल गौतम महर्षि थे। गौतम को गणधर कहो अथवा गणेश कहो, एक ही बात है। जो समूह का धारी हो सो गणधर है, जो गण का ईश को गणेश। वे गणधर अनेक साधुसंग के आचार्य होते हैं, गणधर होते हैं। गणधर का पद तीर्थंकर के बाद का दूसरा नम्बर समझिये। सर्वज्ञ, सर्वज्ञान के प्रभु, सर्वविद्यावों के ईश्वर तो अरहंत भगवान् हैं। अब अरहंत भगवान् से पहिले कौनसा पद ऐसा है, जो ज्ञान में बड़ा कुशल हो? वह है गणेश। अरहंत भगवान् का नाम महादेव भी है। जो महान् देव हो, वह महादेव है और गणधर का नाम गणेश है, यों महादेव के निकट गणेश ही आते हैं। महादेव अर्थात् सकलपरमात्मा अरहंतदेव पूर्णसर्वज्ञ हैं, भगवान् हैं, भगवन्त हैं और उनकी दिव्यध्वनि को झेलने में समर्थ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान के धारी गणेश हैं, गणधर हैं।

सिद्धान्तशास्त्रोक्त आलोचना के प्रकार- श्री गणेश के, गणधर के मुख-कमल से यह समस्त द्वादशांग प्रतिपादित हुआ था, उसी समस्त सारभूत विषय को जिसमें लिपिबद्ध किया गया है, ऐसा यह सिद्धान्तशास्त्र जिसमें वस्तुस्वरूप का और क्षेत्रकाल का यथार्थ प्रतिपादन किया गया है, उन समस्त शास्त्रों का जो प्रयोजन है, अर्थ है, सार है, उन सार का प्रतिपादन करने वाला जो यह वचनरूप आगम है, उस आगम आलोचना की चार पद्धति कही गयी हैं- आलोचना, आलुंछन, अविकृतिकरण और भावशुद्धि।

आलोचनाप्रकारों के क्रम में आलोचन व आलुंछन- दोषों का निर्देशन करना, दोषों का उखाड़ देना, अपने को विकाररहित करना और शुद्धभावरूप परिणति होना- ये चार बातें दोष-शुद्धि के प्रसंग में क्रम से आती हैं। इसी कारण आलोचना के इन चार लक्षणों का यहां क्रम रखा गया है। यह कल्याणार्थी भव्यपुरूष प्रथम तो अपने दोषों का निवेदन करता है, अपने से करे, गुरु से करे, जो जैसी पात्रता का है और जिस वातावरण में आया हुआ है, आलोचना करता है। ये दोष मैं नहीं हूं, मैं दोषों से रहित ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्मतत्त्व हूं। ऐसा अपना संस्कार और ज्ञान करके उन दोषों को उखाड़ फेंक दे, अपने उपयोग में न रखे- यह हुआ आलुंछन।

आलुंछन का विवरण- आलुंछन का अपर नाम आलुंछन भी है। जैसे साधुजन अपने केशलोच कर देते हैं, उखाड़ फैंक देते हैं, इसी प्रकार इस आत्मक्षेत्र में जो आत्मदोष आ गए हैं, उनका लोच कर देते हैं। ये बाल भी खून के मल हैं। शरीर में जो धातुवें हैं, उन धातुवों के प्रतिनिधिरूप दो धातुएँ हड्डी और खून हैं। इनमें से हड्डी का मल निकलता है तो वह नाखून के रूप में निकलता है और रुधिर का मल रोम, केश के रूप में फूटता है। जैसे ये साधुजन रुधिर के मलरूप निकले हुए केशों को उखाड़ फैंक देते हैं। इसी प्रकार इस परमसाधु आत्मा की शक्ति के मलरूप विभावरूप जो रागद्वेष आदिक भाव हैं, उनको उखाड़ कर फैंक देते हैं। यों यह जीव आलुंछन करता है।

अविकृतिकरण व भावशुद्धि- जब आलुंछन हो गया तो फिर जैसा साफ है, तैसा अविकारीभाव रह गया। अब विकार नहीं रहा है, यह हुआ अविकृतिकरण। फिर जैसा शुद्धभाव है, स्वभाव है, सहजभाव है

स्वरूपास्तित्वमात्र तद्रूप वर्तने लगे, यह हुई भावशुद्धि। इस तरह इस ज्ञानी साधु ने आलोचना के प्रसंग में अपने को निर्दोष बनाया।

आत्मनिष्ठ संतों का प्रणमन- हे भव्य पुरुषों ! ये आलोचना के भाव मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रधान हेतुभूत हैं। ऐसा जानकर इन आलोचनालक्षणों को अपने में घटित करें, इनका प्रयोग करें। जो जन इन आलोचना के लक्षणों को अपने आत्मा में लगाते हैं, वे निज आत्मनिष्ठ होते हैं। जो अपने आत्मा में उपयोग की स्थिरता को लाते हैं, आत्मनिष्ठ हैं-ऐसे निज आनन्दरसलीन साधु-संतों को हमारा भावनमस्कार हो।

गाथा 109

जो पस्सदि अप्पाणं समभावे संठवित्त परिणामं।

आलोयणमिदि जाणह परमजिणंदस्स उवएसं ।।109।।

परमार्थ आलोचन- पूर्व गाथा में आलोचना के चार प्रकार कहे गये थे। उन प्रकारों में से प्रथम प्रकार की जो आलोचना है, उसका स्वरूप इस गाथा में कहा जा रहा है। जो जीव आत्मा को समताभाव में स्थापित करके निज आत्मा को देखता है, वह आलोचन है- ऐसा परमजिनेन्द्रदेव का उपदेश जानिये। आलोचना यहां समतापरिणमन का नाम कहा गया है। जो पुरुष पूर्णरूप से अन्तर्मुख होकर, अपने आत्मस्वरूप की ओर झुककर निजस्वभाव को निरन्तर देखता रहता है, उसके आलोचना हुआ करती है। आलोचना का सीधा व्यवहारिक अर्थ है अपने दोषों की आलोचना करना। मुझसे ये दोष हुए हैं, झूठ बोला है, अमुक जीव को सताया है आदि। जैसा कि आलोचना पाठ में बताया गया है, उसका नाम आलोचना है, वह सब व्यवहारालोचना है। निश्चयालोचना में भेद नहीं रहता है। तो अभेदरूप जो समतापरिणाम है, उसका नाम परमार्थ आलोचन है, इसमें परमार्थ का आलोचन दर्शन हो रहा है।

अभेदाराधक की आलोचनस्वरूपता- इससे पहिले आलोचना के लक्षण प्रसंग में यह आलोचन का प्रकार आया है, इस कारण यहां आलोचन कहा गया है। जो पुरुष अपने आपमें प्रकाशमान् कारणपरमात्मा को देखता है, वह पुरुष आलोचनस्वरूप है। परमार्थ से भाव और भाववान् में अन्तर नहीं है। जैसे आग और गर्मी। आग का लक्षण गर्मी कहा है। तो क्या आग अलग चीज है और गर्मी अलग चीज है? कुछ अलग नहीं है। वह आग ही गरम स्वरूप को लिए हुए है। ऐसे ही आत्मा का स्वरूप ज्ञान कहा है? तो क्या ज्ञान अलग चीज है और आत्मा अलग चीज है? नहीं है। आत्मा को ही ज्ञानस्वरूप कहा है। ऐसे ही उस ज्ञानस्वरूप दृष्टि में जो यह आलोचन हो रहा है, सो यह आलोचन भाव, परमार्थ शुद्ध कारणपरमात्मतत्त्व का आश्रयरूप भाव और आलोचक- इनमें क्या यह अलग चीज है? नहीं है। यों इस शुद्ध आलोचन को आलोचक से अभेद करके कहा जा रहा है कि जो अपने इस कारण प्रभु को देखता है, वह ज्ञानी संत आलोचन कहलाता है।

अन्तरीय तत्त्व- भैया ! अपना प्रभु अपने आपमें मौजूद है। जो चैतन्यस्वरूप निर्दोष होकर प्रभु होगा, सर्वज्ञ सर्वदर्शी बनेगा, वह चैतन्यस्वभाव अभी भी हम आपमें मौजूद है। उसका नाम है कारणप्रभु। अरहंत, सिद्ध को कहते हैं कार्यप्रभु अर्थात् उनकी प्रभुता व्यक्त हो गई है, कार्यरूप में प्रभुता आ गई है और हम आप सबकी प्रभुता कार्यरूप में नहीं आयी है, कारणरूप बनी हुई है। अपना कारणप्रभु चैतन्यस्वभाव है, जिसकी दृष्टि करके कार्यप्रभुता प्रकट होती है। यह कारणपरमात्मा अपूर्व निरञ्जन निज ज्ञान का धाम है। ज्ञान का धाम, आनन्द का धाम यह अपना स्वयं आत्मा है। जिसे अपने ज्ञानानन्दस्वरूप का विश्वास है, वह अपने

आनन्द के लिए जगह-जगह नहीं भटकता है, वह कहीं भी बाहर में उत्सुकता नहीं लाता। अपने आपमें विराजमान् ज्ञानानन्दधाम कारणप्रभु की उपासना करके तृप्त रहता है।

शान्तिपूरक कर्तव्य- गृहस्थावस्था में चूँकि धनोपार्जन की आवश्यकता है और सबके देखभाल की जरूरत है। इतना करने पर भी ज्ञानी-गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह रात-दिन में किसी भी क्षण तो अपने को ऐसा अनुभव करे कि मैं अकिन्चन्यस्वरूप हूं, केवलज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूं। यदि अपने सहज शुद्ध स्वरूप का कभी भी विश्वास न करे तो उसका यह सब चतुराई भरा जीवन पशु-पक्षी के जीवन की ही तरह है। पशु-पक्षी भी चतुर पशु-पक्षियों को आदर देते हैं, इसी प्रकार यह सम्यक्त्वशून्य, अपने स्वरूप से अपरिचित पुरुष अज्ञानी जनों से आदर पाता है। इससे क्या आत्मा का पूरा पड़ेगा? एक अपने पास ज्ञानबल नहीं है तो कुछ भी नहीं है। इस कारण से चाहे गृहस्थ हों, चाहे मुनि हों, सभी का यह कर्तव्य है कि अपने आपके इस चैतन्यस्वरूप की खबर लिया करें, अन्यथा न संतोष होगा और न कभी शान्ति मिल सकेगी।

बहिर्मुखता में सन्तोष का अभाव- बाह्यपदार्थों के संचय में कौनसी वह रेखा है, जहां अटक हो जायेगी कि बस इससे आगे अब हमें कुछ न करना चाहिये, हम कृतार्थ हैं। जिसके पास कुछ नहीं है, दाने-दाने को तरसता है, उसकी दृष्टि में 100) ही बहुत बड़ी रकम है और उस समय अपनी हिम्मत के माफिक यह सोचता है कि मुझे 100) मिल जायें, फिर तो हम बहुत सुखी होंगे। 100) की पूँजी हो गई तो हजार पर दृष्टि जाती है, हजार हुए तो लाख की दृष्टि जायेगी, लाख हो जायें तो करोड़ की दृष्टि हो जायेगी और करोड़ हो जायें तो अरब-खरब की दृष्टि हो जायेगी, फिर सारे संसार पर राज्य करने की दृष्टि होती है। मगर सोचो तो सही कि सारी दुनिया पर एकक्षत्र राज्य भी हो जाए तो भी इसे शान्ति का मार्ग कैसे मिल सकता है? बहिर्मुख दृष्टि रहे, बाहर ही बाहर उपयोग रहे तो संतोष कभी मिल ही नहीं सकता।

कारणप्रभु के मिलन की पद्धति- शान्ति का धाम, आनन्दनिधान यह आपका कारणप्रभु स्वयं है। जो इस कारणप्रभु का दर्शन करता है, उसके ही दोष दूर होते हैं और गुण प्रकट होते हैं। यह अपना कारणप्रभु हम अपनी ओर झुकें तो मिलेगा। हम अपने को तो चाहें और खोजें बाहर में तो कैसे मिल सकता है? जो चीज जहां नहीं है, वहां खोजो तो क्या मिल जाएगी? मेरा आनन्द किसी भी बाह्यपदार्थ में नहीं है और हम बाह्यपदार्थों में खोजें तो आनन्द कैसे मिल सकेगा? आनन्द का धाम यह कारणप्रभु स्वयं है। इसकी ओर झुककर हमारा जैसा स्वरूप है, उस स्वरूप के आकार ही उपयोग को बनाकर परमविश्राम कर सकें तो यह कारणप्रभु हमें मिलेगा। इस प्रभु के दर्शन में ही हमारा कल्याण है।

बाहर में शरण का अभाव- भैया ! जगत् में कोई भी पदार्थ विश्वास के योग्य नहीं है, न मेरे लिये शरण है। शरण हो ही नहीं सकता, क्योंकि वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। मैं अपने में अपने द्वारा परिणमता हूं, क्योंकि मैं अपने स्वरूप से सत् हूं। बाह्यपदार्थ अपने स्वरूप से सत् हैं, सो वे अपने में अपने द्वारा परिणमते रहते हैं। मेरा कुछ भी कार्य किसी परपदार्थ में नहीं पहुंचता और न किसी भी परपदार्थ की क्रिया मुझमें पहुंच सकती है। फिर सम्बन्ध क्या मेरा किसी अन्य पदार्थ से? मैं चेतनपदार्थ हूं, जाननहार हूं, इस कारण मैं पर को कभी अपने उपयोग में लेकर कुछ ममता, विषय-कषायों के भाव कर डालता हूं, इतने पर भी मैंने जो कुछ किया, सो अपने आपको ही किया, किसी बाह्यपदार्थ को मैंने नहीं किया। बाह्यभोग भोगने में आये तो बाह्यपदार्थों का कुछ बिगाड़ नहीं हुआ, उनका कुछ भोग नहीं हुआ, उसमें हम ही खुद भुग गये। हमने ही विषय-कषायों के विकल्प करके अपने को गया बीता कर डाला। बाह्यपदार्थ तो जो हैं सो हैं, उनमें मेरे द्वारा कुछ भी बिगाड़ नहीं होता है। वहां जो कुछ होता है, उनका ही परिणमन होता है।

कभी समबन्धरूप, पिण्डरूप परिणमन है, कभी वियोगरूप परिणमन है। उस भोग के प्रसंग में बरबाद तो यह जीव ही हुआ। अचेतन पदार्थ बरबाद नहीं होता, लेकिन जब यह जीव अपना ऐसा ख्याल करे, तब तो यह बरबादी से अलग हो सकता है, पर ख्याल ही नहीं करता।

निर्भ्रान्त ज्ञानी के वैराग्य की वृद्धि- ये साधु-संत अपने शुद्ध सहज वैराग्य की वृद्धि करने में प्रगतिशील रहते हैं। जैसे पूर्णचन्द्रमा समुद्र की स्वच्छता को और बढ़ाता है, बाढ़ के रूप में, फेन के रूप में उसकी स्वच्छता को बढ़ाता रहता है- ऐसे ये साधु-संत उत्तरोत्तर अपने सहज वैराग्य की स्वच्छता को बढ़ाते रहते हैं। ज्ञानी पुरुष का चित्त किसी भी लौकिक पदार्थ में नहीं रहता। जिसे एक बार शुद्ध सत्य ज्ञान हो गया है, वह फिर अज्ञान को कैसे पैदा करे?

सत्यार्थपरिचय में विह्वलता के अभाव का दृष्टान्तपूर्वक समर्थन- जैसे कभी दूर पड़ी हुई रस्सी को देखकर आपको भ्रम हो गया कि यह सांप है। किसी प्रकार हिम्मत बनाकर जरा निकट जाकर ध्यान से निरखा तो लगा कि यह तो रस्सी है और जब बिल्कुल ही निकट पहुंचकर हाथ में उठा लिया तो अब वह भ्रम वाली बात कैसे मन में आए? कैसी उस प्रकार की भ्रम की अवस्था अब प्रकट हो सकती है, जो पहिले था? अब तो शुद्ध ज्ञान हो गया है। ऐसे ही जब तक इन बाह्यपदार्थों में इस जीव का भ्रम था कि मेरे हैं, इष्ट हैं, हितकारी हैं, इनसे ही मेरा बड़प्पन, ये ही मेरे सर्वस्व हैं- ऐसा जब तक भ्रम था, तब तक उन पदार्थों के संयोग-वियोग के कारण विह्वलता हो रही थी, अशांति रहती थी, चैन न मिलता था। जब इस जीव ने हिम्मत बनाकर वस्तुस्वरूप का परिज्ञान किया, प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप उसी पदार्थ में नियन्त्रित है- ऐसा भान किया, स्वतन्त्रता का परिचय हो गया, अब किसी भी वस्तु के संयोग से इस समय इस जीव में विह्वलता नहीं आ सकती अथवा किसी चीज के वियोग के कारण इस जीव में कोई विह्वलता नहीं आ सकती। जब जान लिया कि मेरा मित्र मैं हूं, मेरा सब कुछ परिणमन, सुधार, बिगाड़, कल्याण सब कुछ मेरी ही करतूत से प्रकट होता है, दूसरे पदार्थ की करतूत से नहीं। ऐसा जब सत्यार्थ का परिचय हुआ है, फिर बतावो यह जीव कैसे विह्वल हो सकता है।

परमात्मसंयम में आलोचन तत्त्व- यह ज्ञानी पुरुष इस सहज वैराग्य-समुद्र में ज्वार उत्पन्न करके, फेन उत्पन्न करके इसकी और उज्ज्वलता को बढ़ाता है अर्थात् मूल में तो उज्ज्वलता थी ही, लेकिन अब और उज्ज्वलता इसके टपकने लगती है। ऐसे जो विवेकी ज्ञानी-संत पुरुष हैं, वे अपने परिणामों को समतारूप बनाकर रहते हैं। यही परम संयम है। व्यवहार में संयम कहते हैं चीजों को शुद्धतापूर्वक धरने-उठाने, खाने-पीने और व्यवहार करने को, किन्तु निश्चय में संयम कहते हैं रागद्वेष का परिणाम न करना, संयमस्वरूप ज्ञानानन्दस्वभावी निजात्मतत्त्व में मग्न होने को। अंग्रेजी में संयम कहते हैं कंट्रोल को। अपने उपयोग को अपने में नियंत्रित करना, सो अपना कंट्रोल है, संयम है। जो शुद्ध संयम के बल से अपने आपमें विराजमान् कारणप्रभु को निरखता है, उसी आत्मा को आलोचनस्वरूप जानिये।

चतुर्विधि आलोचना में प्रथम पद्धति- विषय-कषायों के जीतने वाले, समस्त कषायों के नष्ट करने वाले, आत्मगुणघातक कर्मों को दूर करने वाले जिनेन्द्रदेव के उपदेश में जो आलोचना के प्रकार बताये गए हैं, उनमें यह प्रथम प्रकार की आलोचना है। आलोचना के ये चार लक्षण हैं- आलोचन, आलुंछन, अविकृतिकरण और भावशुद्धि। दोषों से रहित निर्दोष आत्मस्वरूप के ढिंग पहुंचना आलोचन है और उस पहुंच के द्वारा अपने समस्त दोषों को उखाड़ फैंक देना, इसका नाम आलुंछन है। फिर अपने आपमें कोई

विकार न आने देना अविकृतिकरण है और फिर ऐसा ही शुद्ध अपने स्वरूप से बने रहना, सो भावशुद्धि है। इन प्रकारों में से पहिली प्रकार की यह आलोचना है।

अपूर्व कार्य- इस प्रकरण से हमें यह ध्यान में लाना चाहिए कि हम आज एक श्रेष्ठ मनुष्यभव में आये हैं। ऐसा कौनसा करने योग्य काम है, जो अभी तक नहीं किया और जिसके करने से संसार के समस्त संकट दूर हो सकें? ऐसा कौनसा काम है? परिवार का बसाना कोई करने योग्य काम नहीं है। क्या होगा इससे? एक मोह की नींद में विकल्पों के स्वप्न बनाकर यह जिन्दगी बिता दी जाएगी, मनुष्यभव छोड़कर जाना होगा। फिर इसके लिए यहाँ का क्या कुछ है? इससे तो आत्मा का पूरा न पड़ेगा। इस लोक में इन मोही मलिन जीवों में कुछ अपनी कीर्ति फैल गयी, कुछ अज्ञानियों ने प्रशंसा कर दी तो उससे क्या पूरा पड़ेगा? इस मनुष्यभव को पाकर कौनसा ऐसा करने योग्य कार्य है, जो अपूर्व है और अपने को नियम से आनन्ददायक है? वह काम है ज्ञानाभ्यास। ज्ञानाभ्यास के बल से अपना जो ज्ञानस्वरूप है, उसके दर्शन का अभ्यास बनाना, यह है करने योग्य काम।

परमआनन्द की आस्था की प्राथमिकता- इस शुद्ध ज्ञानस्वरूप के ज्ञान के काम करते हुए में प्रथम तो यह बात है कि जब इस संसार में रहना होता है, तब तक पुण्य बढ़ता है, सम्पदा बिना चाहे अपने आप आती है। और कदाचित् ऐसी कल्पना करो कि हम अपने आत्मकल्याण में यदि लग जायें, एक ज्ञान सम्पादन के काम में ही बैठे रहें तो फिर धन कैसे रहे? अरे, धन न रहे तो न रहे, तुम्हें आनन्द चाहिए ना? वह आनन्द इन बाह्यवैभवों में न मिलेगा। वह आनन्द तो अपने शुद्ध ज्ञानस्वभाव के अभ्यास में शुद्ध ज्ञानस्वरूप के दर्शन में मिलेगा। उस आनन्द को पाने के लिए समस्त परिग्रहों का सकल संन्यास करना होगा। बिना सकल संन्यास किए ऐसा आनन्दमय पद प्राप्त नहीं हो सकता। ज्ञान का आनन्द तो पा रहे, अब और क्या चाहिए?

प्रभुपथ के अनुकरण में यथार्थ प्रभुभक्ति और परमार्थ आलोचन- देखिए भैया ! हम आप लोग जिस प्रभु का रोज-रोज पूजन करते हैं, वह प्रभु केवल अपने स्वरूपमात्र है, उसके पास कोई परिग्रह नहीं है, न परिजन हैं, न सम्पदा है, और की तो बात जाने दो, शरीर तक भी नहीं है, केवल ज्ञानपुन्ज है यह परमात्मा। इस परमात्मा की तो हम भक्ति उपासना करने आयें और चित्त में यह श्रद्धा न जमा पायें कि ऐसी अवस्था हम पायेंगे तब कृतार्थ होंगे, इस अवस्था में ही कल्याण है। सर्वविकारों का त्याग करके एक आत्मअनुभवन ही रह जाए, रहा करे, यही श्रेष्ठ पद्धति है, ऐसी श्रद्धा न जमा पायें, करें तो पूजन वीतराग सर्वज्ञदेव का और भीतर विश्वास यह बनाए रहें कि मेरा बड़प्पन तो घर-गृहस्थी से, वैभव-सम्पदा से, इस लोक की इज्जत से है तो बतलावो प्रभु का पूजन कहां किया? पूजन तो कर रहे हैं प्रभु का और चतुराई मान रहे हैं अपने मोह भाव की करतूतों में, तो यह कितना विरुद्ध काम है? इन दोषों से कभी हटना होगा। तब वर्तमान में ऐसी श्रद्धा क्यों न बनाएँ कि मैं इन सर्वदोषों से पृथक् केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूं। इस तरह सर्वदोषों को पार करके अपने आनन्दधामस्वरूप में पहुंचे, इसका नाम आलोचन कहा गया है।

साधन, साध्य, सिद्धि का जयवाद- आत्मा का जो सहज परमार्थस्वरूप है, उस स्वरूप को निहारने वाले ज्ञानी साधु पुरुष इसी सहजतत्त्व के अवलम्बन के प्रसाद से अतीन्द्रिय आनन्दमय मुक्त लक्ष्मी के विलास को शीघ्र प्राप्त कर लेते हैं। यह आत्मा जो कि परमार्थ तत्त्व का अवलोकन कर रहा है, वह देवेन्द्रों के द्वारा वंदनीय है और जो इस आलोचन के प्रसाद से शुद्ध सर्वज्ञ हुए हैं, वे सुरेशों के द्वारा व सुरेशवन्दनीय योगीन्द्रों के द्वारा वंदनीय हैं। इस आत्महित के प्रयोजन को साधने वाले और सिद्ध कर चुकने वाले

पंचपरमेष्ठी योगीजनों के आराध्य हैं- ऐसे भक्तजनों की आराधना के विषयभूत यह सहज कारणपरमात्मतत्त्व जयवंत हो। तो भक्त पुरूष इन परमेष्ठियों की आराधना को करते हैं, वे उन परमेष्ठियों के गुणों की अभिलाषा से आराधना करते हैं।

भावसृष्टि- यह आत्मा भावात्मक है। यह जिस प्रकार की भावना करेगा, उसी जाति की सिद्धि प्राप्त करेगा। यह चिंतामणि है। जैसा चिंतन करे, वैसा ही प्राप्त हो। यह अपने को अशुद्धरूप में चिंतन करता है तो अशुद्ध रूप बनता है और अपने को शुद्ध स्वरूप विचारता है तो यह आत्मा शुद्ध बनता है। आत्मा का भविष्य आत्मा पर ही निर्भर है। हम आगे कैसे बने? इसकी जिम्मेदारी हमारे ऊपर ही है। हम शुद्ध भावना से रहते हैं तो हम अशुद्ध रहेंगे। केवल विकल्प करने के सिवाय यह आत्मा किसी भी जगह अन्य काम क्या करता है? गृहस्थी हो, साधुता हो, निर्धनता हो, अमीरी हो, मूर्छावृत्ति हो, ज्ञानवृत्ति हो, कैसी भी परिस्थिति हो, समस्त परिस्थितियों में यह आत्मा केवल अपनी भावना करता है, भावों के सिवाय अन्य कुछ नहीं करता।

अनहोते को होते करने का व्यर्थ अभिमान- वस्तु की स्वतन्त्रता के मर्म को न जानने के कारण और मैं जगत् में सब कुछ कर सकता हूं- ऐसी कर्तृत्व बुद्धि लादने के कारण यह जीव संसार में भ्रमण कर रहा है। इस जीव के वश का अपने शरीर का भी तो कुछ परिणमन नहीं है। कौन चाहता है कि मैं बूढ़ा हो जाऊँ, किन्तु बूढ़ा होना पड़ता है। शरीर तो जीव के इतना निकट है, फिर भी इस शरीर पर उसका वश नहीं चल रहा है। तो परिजन अथवा धन-वैभव, अन्य लोग, मित्र, स्त्री- इन पर वश क्या चलेगा? लेकिन यह मोही प्राणी यथार्थ मर्म को भूलकर कर्तृत्व बुद्धि में रंगा चला जा रहा है और इसी कर्तृत्वबुद्धि के कारण यह अभिमान में मस्त हो रहा है। मुझमें ऐसी कला है, मैं ऐसा कर सकता हूं। गृहस्थों का गृहस्थों के योग्य अभिमान, साधु पद में यदि अज्ञानी साधु है तो साधु जैसा अभिमान। कहाँ जाएगा यह अभिमान? जब मूल में अज्ञान बसा हुआ है, कर्तृत्वबुद्धि बसी है कि मैं ऐसा करता हूं।

अज्ञान की विडम्बना- अहो, कोई उच्च साधुव्रत भी करे, बड़ी दया करे, शुद्ध विधि से आहार करे, अनशन आदिक तप करे, किसी शत्रु पर रंच भी द्वेष न लाये, तिस पर भी भीतर में यदि अज्ञान बसा है तो उसे कर्तृत्वबुद्धि लगी है। मैं साधु हूं, मुझे द्वेष नहीं करना चाहिये, मुझे इस प्रकार की क्रिया से चलना चाहिये, सिद्धान्त में ऐसा बताया गया है, ऐसी कर्तृत्वबुद्धि लगी है हालांकि ऐसे ही सब काम ज्ञानी साधु भी करता है, किन्तु उनका लक्ष्य ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व की दृष्टि में लगा हुआ है और इन सब क्रियावों को परमार्थसाधन की पात्रता का साधक जानकर किया करता है, किन्तु यह अज्ञानी साधु ''मैं साधु हूं'' इस प्रकार का अहंकार बनाता है और मुझे इस तरह लेटना चाहिए, बैठना चाहिये, खाना चाहिये- इस प्रकार की कर्तृत्वबुद्धि बसायी है। सो इतना बड़ा तप करने के बावजूद भी वे साधु अन्तरंग में शान्ति और संतोष नहीं प्राप्त कर पाते हैं।

कल्याणकारक बोध- भैया ! यह जानना सर्वप्रथम आवश्यक है कल्याण चाहने वाले पुरुषों को कि मैं सर्वत्र केवल अपने भाव ही कर पाता हूं, भाव करने के सिवाय अन्य कुछ भी परिणमन मैं नहीं करता हूं। भले ही व्यवहार में कहना पड़ता है कि मैं आपका यह काम कर दूं, मैं आपके शरीर की सेवा कर दूं, बोलना पड़ता है ऐसा, पर ऐसा बोलने में भी भीतर में श्रद्धा इसके यथार्थ है। यह मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप भावात्मक ज्ञानपुंज सिवाय ज्ञानप्रकाश के अन्य क्या कर सकता हूं? चाहे इस ज्ञान को विपरीत पद्धति में लगाऊँ, चाहे इसे शुद्धार्थपद्धति में लगाऊँ, पर केवल भाव ही मैं कर सकता हूं- ऐसा जिन्हें आत्ममर्म का परिचय

है, वे ही पुरुष आत्मसंयम कर सकते हैं, परमार्थ आलोचना कर सकते हैं- ऐसे संतों को संत पुरुष ही परमार्थ से वंदन करते हैं। साधुजन णमोकारमन्त्र में णमोलोएसव्वसाहुणं कहते हैं। स्वयं साधु हैं और साधुवों को नमस्कार कर रहे हैं। तो वहां साधुवों का वास्तविक नमस्कार तो साधु ही कर सकते हैं। जो साधुता के गुणों की पहिचान रखते हैं, वे ही साधु साधु के गुणों पर न्यौछावर हो सकते हैं, ऐसे साधु पुरुष वंदनीय हैं। उनके गुणों की प्राप्ति की अभिलाषा से मैं भी वंदन करता हूं।

शान्तिनिधि का दर्शन- अहो ! ये साधु पुरुष कौनसी निधि पा चुके हैं, जिसके प्रताप से इतना संतोष, इतनी शान्ति प्रकट हुई है और बड़े-बड़े देवेन्द्र भी जिनके चरणों में नमस्कार करते हैं? ऐसी कौनसी निधि पा ली है, जो देवेन्द्रों के पास भी नहीं है? यह निधि है अपने आपके निकट विराजमान् शुद्धार्थ परमपुरुष का दर्शन।

उपासक का लक्ष्यभूत तत्त्व- श्रावकजन पूजन करने में स्वस्तिवाचन के समय अन्तिम छन्द बोलते हैं इस प्रकार-

''अर्हन् पुराणपुरुषोत्तमपावनानि वस्तूनि नूनमखिलान्ययमेक एव। अस्मिन् ज्वलद्विमलकेवलबोधवह्नौ पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि।।''

हे अर्हन् ! हे पुराण ! हे पुरुषोत्तम ! आपकी भक्ति के लिए मैं आया हूं। यह मैं बहुत पवित्र वातावरण में खड़ा हूं। यह सजा-सजाया पवित्र थाल जिसमें अष्ट द्रव्य सजे हुए रखे हैं, यह पावन मंदिर का स्थान है, सम्मुख पवित्र वेदिका है, आपका प्रतिबिम्ब विराजमान् है और यह भी मैं शुद्ध होकर शुद्ध वस्त्र पहिनकर भक्ति के लिए खड़ा हुआ हूं। इस अवसर में चारों ओर शुद्ध ही शुद्ध पावन वातावरण है। इतनी पवित्र वस्तुएँ हैं, किन्तु हे नाथ, मुझे तो यह सब कुछ-कुछ भी नहीं दिख रहा है, मुझे तो केवल एक ही सब कुछ प्रतीत हो रहा है। केवल एक यही शुद्ध चैतन्यस्वरूप इस ज्ञानपुन्ज परमात्मतत्त्व में जिसमें कि केवल ज्ञानरूप अग्नि प्रज्ज्वलित हो रही है, मैं और क्या पूजा करूँ, बस एक ज्ञान-अग्नि में मैं समस्त पावन वस्तुवों को स्वाह करता हूं, एक मन होकर इन समस्त पुण्यपदार्थों को मैं होमता हूं, त्यागता हूं।

जल, चन्दन, अक्षत व पुष्प का निर्वपन- प्रभुपूजा मेंद्रव्य चढ़ाने के मायनेत्यागना है। जैसे जल चढ़ा रहे हैं तो उसके मायने है जल का त्याग कर रहे हैं। मैंने अपने आनन्द के लिए, अपने रोगों को दूर करने के लिये, मल से निवृत्त होने के लिये इस जल का बहुत उपयोग किया, किन्तु मेरा न रोग दूर हुआ, न कोई संकट मिटा, इसलिये नाथ, मैं इस जल को त्यागता हूं। मैं इसे अपना हितकारक नहीं समझता हूं। संताप को मिटाने के लिए बहुत चंदन का उपयोग करता रहा, किन्तु मेरा जो आन्तरिक संताप है, वह इस चंदन से भी नहीं मिट सका, मैं अब इस चंदन को भी त्यागता हूं। मैं सोचता रहा कि मुझे उच्च पद मिले, बड़ी पोजीशन मिले- ऐसे पदों की प्राप्ति के लिये ये चावल अक्षत अपने मस्तक में लगाया। ये भी मेरे कष्ट को न मेट सके, बल्कि बरबादी के ही कारण बने। अत: मैं इन अक्षतों को भी त्यागता हूं। यह मैं इस व्यामोह अवस्था में कामवासना से पीड़ित होकर बड़े श्रृंगार करता रहा, फूलों की सेज, फूलों की सजावट और उन्हीं फूलों के महल बनाकर फूलों के घर में निवास करके कामपूर्ति और शान्ति की चेष्टा करता रहा। ये फूल तो इस कामरोग को बढ़ाने के एक साधन हैं। अब मैं इन फूलों का भी परित्याग करता हूं। मुझे इनमें विश्वास नहीं है कि मेरे को कभी संतोष दे सकें।

नैवेद्य, दीप, धूप व फल का निर्वपन- अपनी क्षुधा वेदना मेटने के लिये बहुत-बहुत व्यन्जन बनाए खाये तो इसका ही नाम है नैवेद्य, किन्तु मैं देखता हूं कि रोज ही खाना, रोज भूखे रहना, रोज वेदना पैदा

होना बना हुआ है, इस नैवेद्य से कभी तृप्त नहीं हो सकता हूं। मैं इसका भी परित्याग करता हूं। मैंने अन्धेरा दूर करने के लिये बड़े दीपक सजाये, बिजलियाँ जलायीं, अन्धेरा सुहाता नहीं, प्रकाश लेने के लिये बड़े ऊँचे दीपक जलाये, उन दीपकों से अंधियारा मिटाने की अभिलाषा करता रहा, किन्तु हे नाथ ! वह वास्तविक प्रकाश न मिला। मेरा वह अज्ञान-अन्धकार इन दीपकों से दूर न हो सका, जिस प्रकाश में रहकर मैं कृतार्थ हो जाता, अब मैं उन दीपकों का भी परित्याग करता हूं। लोक में प्रसिद्ध है कि धूप से, धूपबत्ती से अशुद्ध वातावरण दूर हो जाया करते है। मैंने खूब धूप जलाई, पर मेरी अशुद्धता न गई। कभी मन परेशान हो गया तो मन बहलाने के लिये, मैंने इन दुष्कर्मों को जलाने के लिये समझ लो, संसार की इन बाधावों को मिटाने के लिये खूब धूप-सेवन किया, किन्तु बाधाएँ दूर न हो सकी, मैं इस धूप का भी परित्याग करता हूं। बहुत से फलों का संचय किया, फलों को खाया, किन्तु वास्तविक फल जो संकट मुक्ति का है, वह मुझे न प्राप्त हो सका। अब मोक्षफल की प्राप्ति के लिये मैं इन फलों का त्याग करता हूं और जो मेरा मोक्षफल हैं, उस फल को ही मैं मंगल मानता हूं।

पुण्य-वैभव का परित्याग- अष्ट द्रव्यों का चढ़ाना आदि अनेक विधियों का आलम्बन पूजा में रखने के लिये और अपने में त्यागभाव लाने के लिये इन अष्ट द्रव्यों का आलम्बन किया। मैं इन समस्त पुण्य की सामग्री को त्यागता हूं। इस अवसर पर एक अन्तर में आवाज उठती है कि इस 10-11 आने की सामग्री को त्यागकर इतने उदार तुम बनने आये हो। मानो भगवान की ओर से किसी वकील ने एक बात रखी हो। तो यह भक्त कहता है कि नहीं-नहीं मैं यही नहीं त्याग रहा हूं किन्तु जो भी सम्पदा वैभव हो उसको मैं त्यागता हूं। देखो भैया ! जो भक्त भगवान की पूजा करते समय पायी हुई समस्त सम्पदा से चित्त हटा सकता है वही प्रभु की वास्तव में भक्ति करता है अन्यथा प्रभुपूजा वह करता जा रहा है और धन में, लेनदेन में, दुकान में चित्त बनाये हुए है तो कहां प्रभुपूजा है? जो इतना साहसी है कि पूजा करते समय में समस्त सम्पदा से रहित केवल शुद्ध चैतन्यमात्र अपने को निरख सकता है, वही प्रभुपूजा का पात्र है।

पुष्पकर्म व शुभभावों का निर्वपन- समस्त वैभव के त्यागने का संकल्प करने पर भी मानो भगवान के निकटवर्ती को सन्तोष न हुआ, फिर अन्तर से आवाज उठती है कि वाह रे भक्त तुम भगवान को खूब बहकाने आये हो, ये सोना, चाँदी, धन, सम्पदा, मिट्टी, पत्थर इन परवस्तुवों को त्यागने की बात कहकर अथवा त्यागकर तुम उदार बनना चाहते हो, और ये पदार्थ तो छूटे ही हुए हैं, इनको त्यागा कह देने में कौनसा महत्त्व है? तो भक्त कहता है कि नाथ ! इतना ही नहीं, यह सारा पुण्य वैभव जिस पुण्यकर्म के उदय से मिला है उस पुण्यकर्म को भी मैं स्वाहा करता हूं। भाईयों ! चौंकिये नहीं, वह पुण्यकर्म भी संसार में भटकने का ही कारण है। फिर भी भगवान की ओर से कोई बोला कि ये द्रव्यकर्म भी पौद्गलिक हैं, इनके त्याग में कौनसी महिमा है? तो भक्त कहता है कि नाथ ! यह पुण्यकर्म जिन पुण्यभावों में, शुभभावों से बनता है मैं इन शुभ परिणामों को भी होमता हूं। अशुभ परिणाम तो दूर रहो, किन्तु प्राक्पदवी में जिन शुभ परिणामों को करना चाहिये उन शुभ परिणामों से भी अलग होने की भावना ज्ञानी पुरुष के होती है। आत्मा का स्वरूप न अशुभ परिणाम करता है और न शुभ परिणाम करता है, यह तो मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहे इसी में स्वभाव की कला है। ज्ञानी ने तो इन शुभ परिणामों से भी भिन्न जो सहज चैतन्यस्वभाव है उस परम-पुरुष की दृष्टि पायी है।

वंदनीय तत्त्व- यह स्वभाव तीन लोक, तीन काल के समस्त साधु-संतों द्वारा वंदनीय है। जिसने ज्ञानज्योति के द्वारा इन पाप-अन्धकार को नष्ट किया है, जो परमसंयम योगी पुरुषों के हृदय-कमल में स्पष्ट विराजमान् है, जो पुराण पुरुष करणपरमात्मप्रभु मन, वचन, काय के भी अगोचर है, ऐसे निकट परम पुरुष

में यह योगी देख रहा है कि करने का भी काम क्या है और मना करने का भी काम क्या है? यह तो सहज शुद्ध परिणाम निष्क्रिय है, केवल भावविलास-रूप है। ऐसे भावात्मक तत्त्व का आलोचन करना सो ही परमार्थ आलोचन है।

परमार्थ तत्त्व का जयवाद- यह परमार्थ सहज चैतन्यस्वरूप सदा जयवंत हो। जो इन्द्रिय के विषयों से परे है, भोग के कोलाहलों से दूर है, नय पक्षों से भी अलग है, सदा कल्याणमय है, उत्कृष्ट है, निराबाध है, केवल शुद्ध ज्योतिमात्र है, जिसे अज्ञानी जन मानते ही नहीं हैं और ज्ञानी जनों को अपनी ज्ञानदृष्टि में स्पष्ट व्यक्त है, ऐसा पाप-रहित निर्दोष यह चैतन्यस्वरूप सहज तत्त्व सदा जयवंत हो। अपने मन में ऐसा संकल्प करो कि जब मैं केवल भाव करने के और कुछ कर ही नहीं सकता हूं तब ऐसे परम-तत्त्व की भावना करूँ जिसके प्रसाद से संसार के समस्त संकट दूर हो सकते हैं। जब परम गुरुवों के द्वारा इस शुद्ध आत्मतत्त्व को जानने का अवसर पाया है जो शुद्ध आत्मतत्त्व आनन्द-समुद्र में मग्न रहा करता है, उस तत्त्व को जानकर अब केवल एक इस शुद्ध कारणप्रभु की ही भक्ति में अपना चित्त बसाओ।

आलोचन का यही आत्मप्रभु का सच्चा जयवाद है- प्रभु का दर्शन उसे प्राप्त होता है जो भगवान की दृष्टि से परे केवल एक ज्ञान-पिण्ड अपने को निहारता है। जो समस्त परिग्रहों से दूर है, मोह से रहित है, परभावों से शून्य है ऐसे इस परमात्मतत्त्व को नित्य संभालो, इसकी भावना बनावो। अरे जरा इन्द्रियों को संयत किया, बाह्य पदार्थों का विकल्प त्यागा कि यह प्रभु अपने आपमें सुगम ही उपस्थित है। सर्वविकल्पों को छोड़कर एक चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व की भावना करो। इस प्रकार इस परमार्थ निज-तत्त्व का अवलोकन ही वास्तविक आलोचना है। ऐसे आलोचना-स्वरूप साधु-संतों को मेरा नमस्कार हो।

गाथा 110

कम्ममहीरुह मूलच्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो।

साहीणो समभावो आलुच्छणमिदि समुद्दिट्ठं ।।110।।

आलुन्छन का स्वरूप- आलोचना के इस प्रकरण में आलोचना के लक्षण चार प्रकार से कहे गए हैं- आलोचन, आलुन्छन, अविकृतिकरण और भावशुद्धि। इनमें से आलोचन का तो वर्णन हो चुका है। समभाव में स्थिर होकर अपने को दोष-रहित निरखना और इस ही परमविधि से अपने दोषों का अपने प्रभु से परम आलोचना कर लेना, सो आलोचन है। अब यहाँ आलुंछन का स्वरूप चल रहा है। आलुन्छन कहो या आलुंचन कहो दोनों एकार्थन शब्द हैं। जैसे साधु-संत इस देह के मलरूप केशों को विरक्तभाव से उखाड़कर फैंक देते हैं इस ही प्रकार परम योगीश्वर अपने आपके विकारभावों को, मलिन भावों को विरक्त होकर फैंक देते हैं। इस ही दोषों के उखाड़ देने का नाम है आलुन्छन।

आलुन्छन में परमभाव का अवलम्बन- आलुन्छन आत्मा के परिणामों का ही नाम है, जो स्वाधीन है और समता-परिणाम से भरपूर है, कर्मरूप वृक्षों के मूल से उखाड़ देने में समर्थ है। कर्म दो प्रकार के हैं- एक भावकर्म और दूसरा द्रव्यकर्म। जो रागद्वेषादिक परिणाम होते हैं उनका तो नाम भावकर्म है और जो ज्ञानावरणादिक 8 प्रकार के कार्माणवर्गणारूप कर्म हैं उनका नाम द्रव्यकर्म है। जो पुरुष दोनों कर्मों से रहित सर्वविविक्त शुद्ध स्वरूपास्तित्त्वमात्र चैतन्यस्वभाव का अवलोकन करता है उसके दोनों प्रकार के

कर्मरूप दोष दूर हो जाते हैं। यही है आलुन्छन। भावकर्म को और द्रव्यकर्म को उखाड़कर फैंक देना, यह आलुन्छन साम्यरस से भरपूर ज्ञायक-स्वरूप के आलम्बन से ही बनता है। आलुन्छन के इस लक्षण में परम भाव के स्वरूप की प्रसिद्धि की गई है।

पारिणामिक भाव- जीवों में जो पारिणामिक भाव है वही परमस्वभाव है। प्रत्येक पदार्थ में पारिणामिक भाव होता है अर्थात् वह स्वरूप, वह स्वभाव जो पदार्थ की सत्ता के कारण पदार्थ में सहज शाश्वत रहता है उस स्वभाव का नाम है परम-पारिणामिक भाव। यह अवक्तव्य है, बताया नहीं जा सकता। उस पारिणामिक भाव को बताने का कोई उद्यम करे तो इस उद्यम का अर्थ यह है कि अभेद वस्तु का भेद कर दिया गया है और इस भेद-प्रभेद से फिर वस्तु का स्वभाव बताया जा रहा है। जैसे आत्मा में ज्ञानस्वभाव है, दर्शनस्वभाव है, चारित्रस्वभाव है, आनन्दस्वभाव है, कितनी ही शक्तियों को बताते जायें तो प्रश्न यह होगा कि क्या आत्मा में ऐसा भिन्न-भिन्न स्वभाव पड़ा हुआ है? भेद-बुद्धि से तो भिन्न-भिन्न स्वभाव प्रतीत होता है, किन्तु परमार्थवस्तु क्रियात्मक है, उसमें जो कुछ है वह एक है, अद्वैत है, अद्वैत स्वभाव है, अद्वैत वह पदार्थ है, अद्वैत ही उसकी प्रति समय में पर्याय है। ऐसे अद्वैतस्वरूप वस्तु का जब प्रतिपादन किया जायगा तो उसके भेद हो जायेंगे। इन्हीं भेदों का नाम है गुण। इन समस्त गुणों का जो अभेद करने वाला एक स्वभाव है उस स्वभाव को पारिणामिक-भाव कहते हैं।

पारिणामिक भाव की निरपेक्षता- जीव में एक पारिणामिक स्वभाव है, जिसको चैतन्यस्वभाव चित्स्वभाव इन शब्दों से कहते हैं। यह स्वभाव न औदयिक है, न औपशमिक है, क्षायिक है और न क्षायोपशमिक है अर्थात् यह मेरा स्वभाव मेरे सत्त्व के कारण अनादि से है। यह स्वभाव कर्मों के उदय से नहीं होता है। स्वभाव कर्मों के उदय से तो हो ही क्या? स्वभाव का जो अपूर्ण विकास है वह भी कर्मों के उदय से नहीं होता। जैसे लोग कहते हैं कि इसके कर्मों का अच्छा उदय है, खूब ज्ञान मिला, पर ज्ञान कर्मों के क्षयोपशम से मिला है, उदय से नहीं मिला है। कर्मों का उदय तो स्वभाव के रोकने का ही कार्य किया करता है, स्वभाव का विकास नहीं होने देता। तो जब स्वभाव का अधूरा विकास भी कर्मों के उदय से नहीं है तो स्वभाव तो उदय से होगा ही क्या? मेरा यह चैतन्यस्वभाव कर्मों के उदय से नहीं है।

परमस्वभाव की सहज सनातन अहेतुकरूपता- जो कुछ मुझमें स्वभाव है वह अपने आप शाश्वत अहेतुक है। अग्नि में गरमी का स्वभाव पड़ा है तो गरमी का स्वभाव किसी वस्तु के सम्बन्ध के कारण नहीं है, किन्तु अग्नि का स्वरूप ही इस प्रकार है कि वह गरमी के स्वभाव को लिए हुए है। ऐसे ही मुझमें जो भी एक स्वभाव है जिसे कि मुख से नहीं कह सकते और कहेंगे तो उसके टुकड़े करके कहेंगे। जैसे मेरे में ज्ञान का स्वभाव है, आनन्द का स्वभाव है, यह सब टुकड़ा करके कहा जायेगा। मुझमें जो अखण्ड-स्वभाव है वह अवक्तव्य है। वह स्वभाव कर्मों के उपशम से नहीं होता है। पदार्थ में जो स्वभाव है वह उसमें सहज ही हुआ करता है, न किसी पदार्थ के संयोग से, न किसी पदार्थ के वियोग से स्वभाव हुआ करता है। भले ही आत्मा में कर्मों के विलय से केवलज्ञान हो जाय तो कर्मों के क्षय का निमित्त पाकर एक सर्वज्ञता हो गयी, इतने पर भी उस आत्मा में जो ज्ञानस्वभाव है वह ज्ञानस्वभाव कर्मों के विलय से नहीं होता है, क्योंकि यदि कर्मों के विलय से ज्ञानस्वभाव बनने लगे तो इसका अर्थ यह है कि जब तक कर्मों का क्षय नहीं हुआ तब तक इसमें स्वभाव ही नहीं था क्या? जो भी सत् है उस प्रत्येक पदार्थ में स्वभाव सहज है और अनादि से है।

सहज शाश्वत निजतत्त्व- आत्मा में यह चैतन्यस्वभाव अनादि से है, अनन्त तक है। यह हम आपके सबके परमार्थ घर की बात चल रही हैं। जो निजी-घर है, वहाँ वास्तविक शरण मिला करती है, जहाँ परमार्थ-आनन्द प्राप्त होता है उस निज घर की बात यह है। इस जीव ने कभी भी अपने इस सहज-स्वभाव को निधि-रूप में नहीं माना। बहिर्मुख दृष्टि होने से इन बाहरी जड़-विभूतियों को अपना सर्वस्व माना। यही कारण है कि जो देह पाया, जो संग पाया उसे ही सर्वस्व माना तो संसार में भ्रमण कर रहा है, कहीं विश्राम नहीं मिलता। जो जीव अपने आपमें बसे हुए परम-शरण रक्षक आनन्द-स्वरूप स्वभाव को पहिचान लेता है उसने धर्म पाया। जो आंखें खोलकर बाहर में ही कुछ निर्णय किया करते हैं, धर्म के नाम पर विकल्प बनाया करते हैं उन्होंने धर्म का स्वरूप नहीं पाया। जो गुप्त रहकर परम विश्राम-पूर्वक अपने आपमें इस सहज चैतन्यस्वभाव का अनुभव करता हो उसने धर्म का स्वरूप पाया।

धर्मपालन- लोग यह देखकर कुछ हैरान रहते हैं कि अमुक लोग बड़ा धर्म करते हैं, इतने वर्षों से पूजा-पाठ, ध्यान, तिलक सभी कुछ लगाते चले आए हैं, हाथ में माला रहती है, जहाँ चाहे जपते रहते हैं, ये तो बड़े धर्मात्मा मालूम होते हैं, पर हो क्या बात? कि न तो वहाँ धर्म हो और न कोई लौकिक सम्पदा हो, न खुद संतुष्ट हो और मामूली सी घटनावों में क्रोध उमड़ आता हो तो इसकी वजह क्या है? इतना तो धर्म करते हैं, इतने वर्ष तो धर्म में लगा दिये और फिर भी ज्यों के त्यों अशांत हैं। इसकी क्या वजह है? अरे वजह क्या है, उतने वर्ष धर्म नहीं किया है, केवल अपने मन, वचन और काय का व्यायाम किया है। कोई धर्म करे और संतोष न मिले यह त्रिकाल नहीं हो सकता। धर्म जहाँ से उत्पन्न होता है और जो धर्म है उसका ही स्वरूप विदित नहीं है तो किसके आलम्बन से धर्म प्रकट हो। यह बाहरी आलम्बन तो एक साधन मात्र है। यह ही सब धर्म नहीं है। इन साधनों का कोई सदुपयोग करे और परमार्थ विधि से अपने धर्म-स्वभाव का आलम्बन करे तो धर्म प्रकट होगा। वह धर्म है यही पारिणामिक स्वभाव, चैतन्यस्वभाव। मेरा स्वरूप किस प्रकार का है? कैसा स्वभाव है, कैसा उसका सहज रूपक है? क्या लक्षण है? उस स्वरूप पर दृष्टि जाय तो धर्मपालन हुआ।

पारिणामिक भाव की अविकारस्वरूपता- विशुद्ध निज-स्वरूपदृष्टा पुरुष के अशांति रह नहीं सकती। जिसने समस्त परद्रव्यों से भिन्न केवल ज्ञायकस्वरूपमात्र आत्मतत्त्व का अनुभव किया हो, जो अनुभव कर रहा हो, उसे जब बाह्य विकल्प ही कुछ नहीं रहा, किन्हीं परपदार्थों पर उपयोग ही नहीं रहा तो उसे अशान्ति कहाँ से प्रकट होगी। यों यह जीव के 5 भावों में से पारिणामिक भाव नामक पंचमभाव है। जो विभाव-स्वभाव के अगोचर है ऐसा यह चैतन्यस्वरूप है, इसके आश्रय में ही वह सामर्थ्य है कि भव-भव के बाँधे हुए द्रव्य-कर्म और रागद्वेष आदिक भावकर्म, ये क्षणमात्र में ध्वस्त हो सकते हैं। इस मेरे स्वभाव में न उदय का विकार है, न उदीरण का, न उपशम का, न क्षय का, न क्षायोपशमिक का।

आत्मा में परिणाम और पारिणामिकता- भैया ! आत्मा में कितने ही प्रकार का संयोग-वियोगरूप विकारभाव भी है, फिर भी यह तो अद्वैत है, अपने स्वरूप सत्त्व के कारण शाश्वत सत् है। यह तो यह ही है। इस ही भाव को लक्ष्य में लेकर कुछ लोगों ने ब्रह्म को सर्वथा अपरिणामी कह दिया है। अरे यह स्वभाव अपरिणामी है, पर स्वभाव स्वभाववान को छोड़कर तो नहीं रहता। इस स्वभावमय जो पदार्थ है आत्मा, यदि उपाधि दशा में इस आत्मा में रागद्वेष आदि परिणमन न हो तो फिर मोक्ष किसे दिलाते हो? जो लोग मानते हैं कि आत्मा तो सर्वथा अपरिणामी है उनके गंतव्य से फिर मोक्ष कुछ नहीं रहा, क्योंकि आत्मा तो अपरिणामी है वह तो सदा शुद्ध है, उसमें तो रागद्वेष ही नहीं है, फिर मोक्ष किसे दिलाते हो? दु:खी कौन है? जो दु:खी हो उसको ही तो मोक्ष दिलाना होगा। आत्मा तो दु:खी है नहीं, शरीर दु:खी है, जड़ दु:खी

है। तो जड़-पदार्थों का मोक्ष हुआ, फिर तो चैतन्य का मोक्ष नहीं हुआ, यह भी संगति नहीं बैठती क्योंकि जड़-पदार्थों में दु:ख आ ही नहीं सकता। लक्कड़-काठ जलकर राख हो जाते हैं, इनमें कोई दु:ख की वेदना ही नहीं होती। ये तो पुद्गल हैं। किसी भी अवस्था-रूप बन जायें उनसे क्या हानि है।

अनाकुलस्वभाव की विमुखता में आकुलता- आत्मा एक पदार्थ है, उसका स्वभाव अपरिणामी है, शाश्वत है, निरपेक्ष है, निर्विकार है, किंतु परउपाधि के सम्बंध में यह आत्मा अपना उपयोग इस निर्विकार निरपेक्ष स्वभाव का नहीं कर सकता है, इसी कारण इसमें रागद्वेष कषायों की तरंगे उठती हैं, इसी से आकुलित है। इस आकुलता को दूर करने के लिए मोक्ष का उपाय बताया गया है। जितने भी धर्म के प्रसंग हैं उनमें धर्म का रूप तब ही पा सकते हैं जब इस धर्म करने वाले की दृष्टि में अपना यह अविकारीस्वभाव नजर में रहे।

आत्मा का वैभव से पार्थक्य- भैया ! मैं सबसे न्यारा चैतन्यस्वभावमात्र हूं, इसकी परीक्षा भी कर लो, धन, वैभव आदि जड़-पदार्थों से तो न्यारे हैं ही। आप लोग मंदिर में बैठे हैं, इस समय न आपके साथ मकान चिपका है, न कुटुम्ब चिपका है, आप अकेले यहाँ बैठे हैं। ज्यादा से ज्यादा आप इतना कह सकते हैं कि हम शरीर के साथ बैठे हैं। शरीर को छोड़कर और कुछ भी साथ है क्या? घर, घर की जगह खड़ा है, वह पत्थर-मिट्टी का ढेला है, उसका उसमें उसके कारण परिणमन चल रहा है, आप यहाँ विराजे हैं, आज अपनी कल्पना में उसे मानते हो, भव बदल जाय तो जहाँ उत्पत्ति होगी वहां जो मिलेगा उसे अपना मान लोगे। फिर इसकी खबर क्या रहेगी? और जिन्दगी में भी कुछ से कुछ विचित्र घटना बन जाय, मकान बिक जाय तो फिर इसे अपना नहीं मान सकते। तो यह आत्मा बाह्य-वैभव से तो प्रकट भिन्न है। अब देह की बात निरखो।

आत्मा का देह से पार्थक्य- भैया ! इतना तो स्पष्ट ध्यान में आता कि मर जाने के बाद यह देह कोरा एक जड़ जैसा है तैसा ही रह गया, जीव निकल गया। वहां तो पूर्ण श्रद्धा है ना कि जीव इसमें नहीं रहा, जीव इसमें से निकल गया। अगर यह श्रद्धा न हो तो आप मुर्दा नहीं जला सकते। वहां तो यह श्रद्धा बन जाती हैं कि जीव न्यारा है शरीर न्यारा है। अब जीव नहीं रहा इसमें से जीव निकल गया तो इसे अब जला देना चाहिए। जो शरीर निर्दयता-पूर्वक अग्नि में जला दिया जायगा। उस शरीर को अपना मानना यह कितनी बड़ी भूल है? आज शरीर में हैं, इसकी फिकर रखते हैं, खिलाते हैं, सजाते हैं। अनेक इस शरीर के लिए श्रम किया करते हैं, मगर इस मुर्दा शरीर में दूसरे हाथ-पैर न बन जायेंगे। यह शरीर ऐसे ही किसी दिन मित्रों द्वारा, बन्धुवों द्वारा जला दिया जायेगा।

परिजनों का रवैया- करते क्या हैं कुटुम्बीजन या मित्रजन, लौकिक दोस्त कि इसके द्वारा पाप कराते हैं और फिर अंत में इसे जला डालते हैं। ये कुटुम्बीजन पाप कार्य करवाते हैं, अन्तर में कुछ धर्म की बात नहीं प्रकट करवाते हैं। यदि कोई धर्म की बात ये लौकिक-मित्र प्रकट करते हों तो बतलावो- पाप करवायें, विकल्प मचवायें, कर्मबंध करायें और अंत में इसे जला डालें। ऐसे पशु-जीवन व नर-जीवन में कुछ अन्तर है। जैसे पशुवों के मालिक-लोग पशुवों से खूब कमाते हैं, खूब बोझा लादते; वे पशु बीमार हो जाते तब भी फिकर नहीं, कंधे सूज जायें तो भी गाड़ी में जोतते, हर तरह से काम कराते। जब पशु बेकार हो गया तो कषायी के हाथ बेच दिया, वहाँ उसका गला कटवा दिया। पशुवों के प्रति पशुवों के मालिक का यह रवैया है तो मनुष्यों के प्रति इन मनुष्यों के मालिक का क्या रवैया है? इन मनुष्यों के मालिक कौन हैं, जो-जो इनसे काम करवायें वे सब मालिक हैं, जिन-जिन कुटुम्बीजनों के लिए, मित्रजनों के लिए यह

जुतता है, काम करता है, श्रम करता है वे सब इसके मालिक हैं। यह मोही-जीव मानता हैं कि मैं इनका भी मालिक हूं और हो रहे हैं वे खुद इसके मालिक, उतने मालिक इस मनुष्य के खूब काम कराते हैं, जोतते हैं। यह जब बेकार हो जायगा, मृत्यु हो जायेगी, केवल ढांचा रह जायेगा तो ये ही सब उसे शीघ्र जला डालते हैं। कौनसे कुटुम्बी, कौनसे मित्रजन उपकार करते हैं सो बतावो- उपकारी तो वास्तव में देव, शास्त्र, गुरु हैं, इनके सिवाय कोई वास्तविक उपकारी हो तो बतावो। बाकी लोग तो सब खुद विषय-कषायों में फँसना, दूसरों को फँसाना- यह एक काम किया करते हैं।

परमशरण परब्रह्म के दर्शन बिना जीव की विडम्बना- यह परमस्वभाव, यह परमशरण, यह हमारा रक्षक खुद खुद ही में विराजमान् है किन्तु इसे न पाकर इसके दर्शन बिना कितना भटका है यह जीव? कितना दूर-दूर के पदार्थों में इसने अपना उपयोग लगाया है, बस यही बहिर्दृष्टिपना इस जीव को संसार में जन्म-मरण करा रहा है। यह चैतन्यस्वभाव इसी कारण से परम कहलाता है और इस स्वभाव के अतिरिक्त अन्य समस्त भाव अपरम कहलाते हैं, हम किसका सहारा लें कि हमें धोखा न मिले और नियम से शुद्ध-ज्ञानानन्द का पद प्राप्त हो जाय। उस सहारे का नाम तो लीजिए। मकान, दुकान तो प्रकट असार हैं, इनमें उपयोग लगाने से तो आकुलता ही मचती है। बतावो- जब पैदा हुए थे तब क्या चीज संग में लाये थे? और जब मरण करेंगे तो क्या चीज संग में ले जायेंगे? अरे जितने दिनों तक जीवित हैं उतने दिन भी कोई चीज संग में नहीं है। आत्मा के प्रदेश में कौनसा पदार्थ प्रवेश कर सकता है? सब जुदे हैं, लेकिन मोह का पिशाच ऐसा बुरा लगा हुआ है कि यह जीव उसके उद्यम में कारण यथार्थ-बात पर टिक नहीं सकता।

विश्राम और धर्म का आश्रय- यह मुग्धजीव अपने स्वरूप से च्युत होकर बाह्य अर्थों में दृष्टि लगाकर अनाप-सनाप भटक रहा है, इसे विश्राम नहीं मिलता। कहाँ से विश्राम मिले? विश्राम का कहीं ठौर ही नहीं हो सकता है। ऐसा यह परमचैतन्यस्वभाव परमभाव कहलाता है, इसके अतिरिक्त जो औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव हैं इन चारों को अपरम कहते हैं। इसही शुद्ध परमस्वभाव का चैतन्यस्वभाव का आलम्बन संसार विष-वृक्ष के मूल को उखाड़ने में समर्थ है। समस्त संकटों का अपहरण करने वाले अपने आपके इस चैतन्यप्रभु का आश्रय करने में ही कल्याण है। इसके आश्रय में धर्म प्रकट होता है।

सर्वजीवों में परमस्वभाव की विद्यमानता- यह चैतन्यस्वभाव समस्त कर्म विष-वृक्ष के मूल को उखाड़ देने में समर्थ है। यह परमस्वभाव मिथ्यादृष्टि के भी सतत् प्रकाशमान् रहता है, लेकिन उसके उपयोग में वह स्वभाव नहीं है इसलिए उपयोग में अविद्यमान है, किन्तु चैतन्यस्वभाव में तो सदा विद्यमान ही रहता है। वह परमात्मतत्त्व त्रिकाल निरावरण है और अनन्तचतुष्टयसम्पन्नतारूप पर्याय का कारण है। मिथ्यात्व के उदय होने पर जीव के श्रद्धान नहीं रहता है इसलिए मिथ्यादृष्टि जीव के यह चैतन्यस्वभाव अविद्यमान है फिर भी निश्चय से सदा विद्यमान ही रहता है। नित्य निगोद के जीव हैं उनके भी शुद्ध निश्चय से यह परमभाव बना हुआ है। सर्वजीवों के यह चैतन्यस्वभाव है। जो एकेन्द्रिय आदिक हैं उनके भी यह कारण-परमात्मतत्त्व हैं, जो संज्ञी भी हैं किन्तु मिथ्यादृष्टि हैं अथवा इस परमस्वभाव का लोप करने वाले हैं, जिनका मंतव्य नास्तिकता-रूप है ऐसे जीवों के भी यह कारण-परमात्मतत्त्व विद्यमान है।

भव्य और अभव्यों में परमस्वभाव की एकरूपता- आत्मस्वभाव का आलम्बन करने से मिथ्यात्व का छेदन होता है और द्रव्यकर्म, भावकर्म सभी प्रकार के विष-वृक्ष के निर्मूलन में सामर्थ्य प्रकट होती है। इस

पारिणामिक भाव के भेद नहीं है, वह अभेद है। भव्य जीव हो उसके भी पारिणामिक-भाव उस ही प्रकार है जिस प्रकार अभव्यजीव के है। भव्य और अभव्य का भाव स्वभाव से नहीं उठा हुआ है। इस कारण पारिणामिक भाव सभी जीवों के एक समान रहता है। जैसे मेरुपर्वत के नीचे भाग में जो स्वर्णराशि हो, स्वर्ण पाषाण हो उसमें भी स्वर्णपना है। यद्यपि यह निकल कैसे सके, मेरुपर्वत के मूल भाग में नीचे पड़ा हुआ स्वर्ण का ढेर यद्यपि प्रकट नहीं हो सकता, किन्तु वहाँ तो स्वर्णराशि है ही। इसी प्रकार अभव्यजीवों के यह परमस्वभाव विकासरूप में प्रकट नहीं हो सकता है किन्तु परमस्वभाव उस वस्तु में अवश्य है, व्यवहार में न आ सकेगा, यह बात अलग है। यह परमस्वभाव शुद्ध परिणमन से परिणत न हो सके, फिर भी चूँकि यह चैतन्यद्रव्य है और चेतन में चेतनत्व का होना शाश्वत है इस कारण यह चैतन्यस्वरूप अभव्यजीवों के भी निरन्तर बना रहता है। परमस्वभाव का जो आश्रय कर सकने योग्य हैं उन्हें भव्य-जीव कहते हैं और जो इन परमस्वभाव का आश्रय करने योग्य नहीं हैं उन्हें अभव्य जीव कहते हैं, लेकिन यह परमस्वभाव सभी जीवों के शाश्वत रहता है।

आलुन्छन में आश्रेय परमस्वभाव- जो जीव सम्यग्दृष्टि हैं, अति आसन्न भव्य जीव हैं जिनका मोक्ष निकट है उनको तो यह परमस्वभाव प्रतिभासित हो जाने के कारण, अनुभव में आने के कारण सफल बना हुआ है। ज्ञानी-जीव को यह परमात्मस्वरूप सदा स्पष्ट व्यक्त रहता है और इस ही कारण इस परम-पारिणामिक भाव के आश्रय के द्वारा इन भव्य जीवों को आलुंछन नाम का पुरुषार्थ प्रकट होता है, ज्ञायकस्वरूप का उपयोग करना यह आलुंछन है। इस उपाय के द्वारा समस्त दोष, समस्त कर्म दूर हो जाते हैं। कौनसा ऐसा जगत् में तत्त्व है जिसका आश्रय करने से यह जीव नि:शंक, निर्भय होकर परम-आनन्द को प्राप्त होता है। ये धन, वैभव, मकान सब प्रकट असार हैं, भिन्न हैं, अचेतन हैं, इनसे मेरे आत्मा में कोई परिणति प्रकट नहीं हो सकती है। यह मैं आत्मा अपने गुणों स्वरूप हूं, इसमें मेरे ही गुणों का विकास सम्भव है। किसी अन्य पदार्थ के विकास से मेरे गुणों का विकास नहीं हो सकता है। आत्मगुणों का विकास शुद्ध होता है। जब यह शुद्ध आत्मगुणों का आश्रय करे। जब आत्मा गुणों का आश्रय न करके मिथ्यात्व परिणामवश बाह्य-पदार्थों में हित-बुद्धि करता है, रुचि रखता है तो इस जीव को विपरीत भाव प्रकट होता है जिसके कारण संसार में रुलना पड़ता है।

ज्ञानी की भक्ति का स्थान- यह परमस्वभाव कर्मों से अत्यन्त दूर है, कर्मों का इस स्वभाव में प्रवेश नहीं है, किसी भी वस्तु का स्वभाव किसी अन्य वस्तु के कारण न बनता है, न बिगड़ता है और न परिणमता है, स्वभाव तो पदार्थ में सदैव नियत रहता है। यह वस्तु की प्राकृतिक व्यवस्था है। अपने आपमें बसा हुआ अपना लाल, अपना चिन्तामणिरत्न अपने आपको नहीं मालूम है। इस कारण यह जीव दर-दर भिखारी हुआ भटकता रहता है। कभी किसी पुरुष का आश्रय करता है, कभी किसी पुरुष का आश्रय करता है। जो आत्मा साधु, योगी, संत हैं उनके लिए एकदम स्पष्ट प्रकट है अपने आपका परमात्मा। मोहीजन इस निज परमात्मतत्त्व को न समझकर पुत्र-स्त्री आदिक में अपने हित-भाव की आशा करते हैं, वे ही मेरे सर्वस्व हैं, इनसे ही मुझे सुख मिलेगा, इनके लिए ही मेरा जीवन है, जो कमाया वह सब इस कुटुम्ब के लिए है। शरीर का जो श्रम किया जाता है वह सब इस कुटुम्ब के लिए है। इस अज्ञानी-जीव ने धर्म के साधनों की सेवा नहीं की। चेतन धर्मस्थान और अचेतन धर्मस्थान किसी के भी प्रति धर्म-रूप से उमंग भी उत्पन्न नहीं हुई।

परमार्थ धर्मस्थान- यह परमार्थ धर्मस्थान सहज परमात्मतत्त्व मुनियों को प्रिय है। मुनिजन निर्जन जन्तुवों से भरे हुए वन के अन्दर रहते हुए भी सदा-सम्पन्न रहा करते हैं, उन्हें ऐसी कौनसी निधि मिली है जिसके

कारण वे तृप्त, संतुष्ट और आनन्दमग्न रहा करते हैं। न उनके साथ फौजफाटा है, न वैभव है, और की तो बात जाने दो खाने-पीने का भी रंचमात्र साधन नहीं है, फिर भी बड़े-बड़े महाराज, चक्रवर्ती अपने वैभव को त्यागकर निर्ग्रंथ अवस्था में रहकर प्रसन्न रहा करते हैं। ऐसी कौनसी निधि है जिस निधि के कारण वे प्रसन्न रहा करते हैं? वह निधि है इस कारणसमयसार का अनुभव। यह चैतन्यस्वरूप एकाकार है। एक ज्ञानानन्दरस से भरपूर है, अनादि-अनन्त है, इसका न कभी आदि होता है और न कभी अन्त हो सकेगा। वह शुद्ध है।

पारिणामिक भाव के आश्रय का जयवाद- यह पंचमभावरूप परम-पारिणामिक भाव सदा जयवंत हो। इसका ही आश्रय संसार के समस्त संकटों को नष्ट कर सकने वाला है, अन्य किसी का भरोसा झूठा है। किसका सहारा लें कि आत्मा चैन में रह सके। अब तक चैन में नहीं रह सका यह जीव और आश्रय लिया अनगिनते पदार्थों का, अनगिनते जीवों का, पर कहीं भी इस जीव को तृप्ति नहीं मिल सकी। यह अब तक भी आकुल बना हुआ है। जो शान्ति होने की पद्धति है उसके विरुद्ध कोई चले तो उसे शान्ति कैसे मिल सकती है? अपना ही तो यह उपयोग है और अपना ही यह स्वभाव है। यह अपना उपयोग अपने ही अन्तर में शाश्वत प्रकाशमान् इस स्वभाव को ग्रहण करे, इसका ही आलम्बन ले तो आज भी कोई आकुलता नहीं हो सकती है किन्तु जब अपने इस शुद्धस्वरूप से चिगकर बाह्य-पदार्थों में दृष्टि फँसाते हैं तो नाना आकुलताएँ होना प्राकृतिक ही बात है।

पर्यायबुद्धि का पर्दा- अनादि काल से यह समस्त जीव-लोक तीव्र-मोह में सदा मत्त बना हुआ है। कितना संकुचित इसका लक्ष्य हो सकता है, इने-गिने कल्पित-पदार्थों के लिए अपनी जान भी न्यौछावर कर देते हैं, यह नहीं समझ पाते कि इस जगत में 6 जाति के द्रव्य हैं। प्रत्येक द्रव्य अपनी जाति में पूर्ण समान है। चैतन्यद्रव्य से सर्व समान हैं। इस चैतन्य-पदार्थ में से कौनसा पदार्थ अपना है, कौनसा पदार्थ पराया है, सभी पर हैं। भले ही कुछ कल्पना की अनुकूलता में मोहीजनों से अनुराग बना हुआ है लेकिन इस अनुराग का भी तो विश्वास नहीं है। आज कषाय की अनुकूलता है तो विश्वास बना हुआ है, कषाय की अनुकूलता न रहे तो यह भरोसा भी नहीं रह सकता है। यह सारा जीव-लोक पंचेन्द्रिय और मन के वश होकर भ्रष्ट बना हुआ है। जो संज्ञी हैं वे मन से भी मूढ़ हैं, जो असंज्ञी हैं, जिनके जितना इन्द्रिय परिणाम है वे उन इन्द्रियों से मूढ़ बने हुए हैं। जब पर्याय-बुद्धि का मोह दूर हो तो यह ज्ञान-ज्योति प्रकट हो सकती है। एक अज्ञान के पर्दे से इतना बड़ा अन्तर हो गया है। इस पर्दे के अन्तर तो सुखसागर उपस्थित है और पर्दे के बाहर में सर्वत्र क्लेश-जाल मौजूद है।

आत्मा का अशुद्ध-तत्त्वों से पार्थक्य- भैया ! इस जीव को कहाँ है क्लेश? यह स्वयं है क्या, इसका निर्णय करके परखें तो जीव को कहीं भी क्लेश नहीं है। यह विभावों से परे है, यह देह से भी न्यारा है, रागादिक भाव से भी यह दूर है, भले ही ये रागादिक-भाव इस आत्मा के ही एक क्षेत्र में हो रहे हैं, लेकिन स्वभाव में त्रिकाल भी ये प्रवेश नहीं कर सकते हैं, अर्थात् जीव का स्वभाव रागादिक रूप कभी हो ही नहीं सकता, इस कारण परमस्वभाव रागादिकस्वभाव से अत्यन्त दूर है। यह दूरी भाव-अपेक्षा से हैं, क्षेत्र अपेक्षा से बात नहीं कहीं जा रही है। ऐसा यह कारणसमयसार रागादिक भावों से भी दूर है, ज्ञानियों को सदा संकट है, अज्ञानियों को यह अप्रकट है, इसका सहारा जिन्हें नहीं मिलता है वे इस जगत में परवस्तु के आशावान् होकर भटकते रहते हैं। आशा के प्रकार अनेक होते हैं। कोई मनुष्य तीव्र मोह में घर-कुटुम्ब को ही अपना समस्त वैभव जानकर उनके लिए सब प्रकार की आशा किया करते हैं। कोई पुरुष अपने आपकी इज्जत-पोजीशन को अपना सब कुछ महान् जानकर उस पोजीशन के रखने के लिए परजीवों की आशा रखा

करते हैं। कोई पुरुष परवस्तु से धर्म होता है ऐसा परिज्ञान करने के कारण धर्म की धुन में धर्म के स्थानभूत बाह्य निमित्तों का आश्रय किया करते हैं। आशा के अनेक प्रकार हैं। ये सर्वप्रकार की आशाएँ वहाँ शान्त हो सकती हैं जहाँ यह कारणसमयसार शुद्ध चैतन्यतत्त्व दृष्टि में आ गया हो।

ज्ञानी की नि:शंकता- जिसको अपना यह चिन्तामणि सर्व-संकटों से दूर अपने आपमें शाश्वत विराजमान् अनुभूत हो जाता है उस पुरुष को संसार की फिर शंका नहीं रहती है, जो अपने को एकाकी मानता है उसको कष्ट नहीं है। जो अपने को पर से मिला-जुला हुआ मानता है उसको ही कष्ट हुआ करता है। कोई कष्ट की बड़ी से बड़ी परिभाषा रख लो जरा- कहीं ऐसा न हो जाय कि मेरा जितना भी वैभव है यह सब वैभव सरकार छुड़ा ले, ऐसी भी कल्पना करो तो भी विचार करके तो देखो- आकाशवत्, निर्लेप, अमूर्त, ज्ञानमात्र इस आत्मतत्त्व में कौनसा बिगाड़ हो जायगा? यदि सारा वैभव भी कोई छीन ले। रही यह बात कि क्षुधा, तृष्णा की वेदना मिटाने का क्या साधन न होगा? अरे इसकी क्या चिन्ता करना? जिन कर्मों के उदयवश यह जीवन पाया है क्या वहाँ और कर्मों का उदय नहीं चल रहा है? सबका गुजारा किसी न किसी प्रकार हो ही रहा है। जिनका लोक में कोई सहारा नहीं है ऐसे भिखारीजन भी अपने आपका जीवन चला लिया करते हैं। जिनसे कोई वचन व्यवहार भी करने वाला नहीं है ऐसे कीड़े-मकौड़े भी अपना जीवन बराबर चला लिया करते हैं। क्या चिन्ता करना? जो सत् है वह किसी न किसी रूप परिणमता रहेगा, यह मर्मज्ञानी को ज्ञात है। चिन्ता की क्या बात है? जो भी स्थिति आए उसही स्थिति में प्रसन्न रह सकें ऐसा ज्ञानबल प्रकट हो तो उसे शान्ति हो सकेगी। ज्ञानबल से हीन पुरुष पर की आशा लगाकर दोषों के पुन्ज बन रहे हैं।

निर्भ्रान्ति में यथार्थ सन्तोष- यहाँ यह ज्ञानीसंत क परमस्वभाव चिद्रूप के ध्यान के प्रताप से समस्त दोषों को उखाड़ रहा है। यही है उसका आलुंछन। जब जीव के मोह का अभाव होता है तब नि:शंकता, निर्भ्रान्तता और निर्व्याकुलता ये सभी अभीष्ट तत्त्व प्रकट हो जाते हैं। भ्रम से बढ़कर अन्य कोई दु:ख नहीं है। जैसे किसी को रस्सी में सांप का भ्रम हो जाय तो यद्यपि रस्सी-रस्सी की जगह है, वह मनुष्य अपनी जगह है किन्तु कल्पना में आने से इस मनुष्य की शंका भी बढ़ गई, व्याकुलता भी बढ़ गई और वह भ्रांतचित्त भी हो गया। कभी-कभी किसी उपाय से यह रस्सी का यथार्थ परिज्ञान कर ले, समझ में आ जाय कि यह तो कोरी रस्सी ही है तो इस भ्रम के मिटने से ही तत्काल ही शंका भी दूर हो गयी, व्याकुलता भी दूर हो गयी और चित्त भी व्यवस्थित बन गया। ऐसे ही प्रकट भिन्न असार परपदार्थों में जब तक यह भ्रम लगा हुआ है कि यह पदार्थ मेरा है, हितकारी है तब तक यह जीव शंकित भी रहता है, व्याकुल भी रहता है और भ्रांतचित्त भी रहता है। इसका उपयोग किसी भी अन्य पद में फिट नहीं बैठ पाता है कि जहाँ इसे संतोष हो जाय। जिस भूल-भरी प्रवृत्ति से क्लेश बढ़ रहा है उस ही प्रवृत्ति से यह क्लेश के नाश का उपाय मानता है।

आलुन्छन का आधार और प्रसाद- आलुंछन के प्रसंग में यह परम आलोचक भव्यजीव परमशरण, निज परमपारिणामिकभाव का शरण ले रहा है जिसका आश्रय करने से निश्चय समस्त संकट टल जाते हैं। कल्पना का संकट है। विकल्पजाल का क्लेश है। ये समस्त विकल्पजाल और भ्रान्ति भरी कल्पनाएँ नष्ट हो जाती हैं, यों उसके समस्त संकट समाप्त हो जाते हैं। ऐसा यह आत्मवस्तु में बसा हुआ पंचम परमपारिणामिक भाव जो समस्त शुद्ध-पर्यायों का मूल है, जिसका आश्रय करने से शुद्धपर्यायों की संतति चलती रहती है, उस शुद्धचैतन्यस्वरूप अपने आपको अनुभवो। लोगों में अपने आपके सम्बंध में किसी न किसी रूप में अनुभव करने की परिणति पड़ी हुई है। कोई अपने को गृहस्थ मानता है, कोई साधु मानता

है, कोई कोई धनी मानता है, कोई किसी प्रकार समझता है। अरे ये सब उपाधियां मायास्वरूप हैं। इन उपाधियों रूप अपने को मानने से कोई सुधार न होगा। संसार में रुलना वैसा ही बना रहेगा। अपने आपको मानो उस रूप, जो यह मैं अपने आप स्वत: सहज, पर की अपेक्षा बिना शाश्वत होऊँ ऐसा यह मैं हूं। ऐसा शुद्ध ज्ञायकस्वरूप अपने आपको लखने से ये समस्त दोष उखड़ जाते हैं। इस प्रकार आलोचना के चार लक्षणों में यह आलुंछन नाम का लक्षण कहा गया है। इस आलुंछन के प्रसाद से यह संसारी जीव संसार-संकटों से मुक्त होकर शाश्वत निर्वाणपद को प्राप्त होता है।

गाथा 111

कम्मादो अप्पाणं भिण्णं भावेइ विमल गुणणिलयं।

मज्झत्थभावणाए वियडीकरणंति विण्णेयं। ।111।।

अविकृतिकरण का स्वरूप- जो जीव मध्यस्थभावना रखकर देह से भिन्न आत्मा को निर्मल गुणों का निवासरूप भाता है उस जीव के अविकृतिकरण जानना चाहिए। इस गाथा में आलोचना के लक्षणों में से जो तृतीय लक्षण अविकृतिकरण है उसका स्वरूप कह रहे हैं। इसमें शुद्ध अविकारी जीव की परिणति बतायी गयी है। जो पुरूष पापरूपी वन को जलाने के लिए अग्नि की तरह प्रज्ज्वलित है, जिसने समस्त विभावों से भिन्न आत्मतत्त्व की ओर अपना झुकाव किया है, जहाँ केवल ज्ञानानन्दस्वरूप ही अनुभूत होता है, जो द्रव्यकर्म और भावकर्म से भिन्न है ऐसे आत्मा को जो ध्याता है वह स्वयं ही अविकृतिकरण नामक आलोचना का स्वरूप है। अविकृति का अर्थ है विकार न होना। अपने आपको अविकारी करने का नाम है अविकृतिकरण। यह जीव स्वभाव से अविकारी है प्रत्येक पदार्थ स्वयं जैसा है वैसा ही सदा रहता है। उसमें पर्यायदृष्टि से उपाधि का निमित्त पाकर विभाव-परिणमन चलता है पर विभाव-परिणमन चलने पर भी पदार्थ का स्वरूप वही रहता है जो उसके सत्त्व के कारण उसमें अन्तर व्यक्त रहता है। यह अविकृतिकरण सहज गुणों का आलम्बन करने से प्रकट होता है।

परभावविविक्त अविकार स्वभाव- जो पुरुष अपने आपको अविकाररूप से श्रद्धान नहीं कर सकता उस पुरुष के विकार कभी हट भी नहीं सकते हैं। जिनकी समझ ही में यह बात नहीं आयी है कि मैं स्वभावत: शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप हूं, जो विकार आये हैं वे परनिमित्त पाकर आये हैं, हुए हैं आत्मा में ही पर आत्मा ही उपादान हो और वही निमित्त हो, ऐसा नहीं है। अशुद्ध भाव का दान तो अशुद्ध आत्मा है परन्तु वही आत्मा अपने विभाव के लिए निमित्त हो जाय तो फिर विकार कभी दूर हो ही नहीं सकते हैं। होते हैं आत्मा में, परनिमित्त है परोपाधि द्रव्यकर्म। परनिमित्त होने पर भी इस आत्मा में न निमित्त का प्रदेश आया, न द्रव्य आया, न गुण आया, न पर्याय आया और न निमित्त का प्रभाव भी इस जीव में नहीं आया। द्रव्यकर्म अपने प्रभाव से इस जीव को रागी बना सकते हो, ऐसा त्रिकाल नहीं है किन्तु ऐसा ही सहज निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है कि अमुक प्रकार का अशुद्ध उपादान किसी परपदार्थ को योग्य उपाधि को निमित्त पाकर स्वयं ही अपनी शक्ति से विभावरूप परिणम जाता है।

निमित्त के तत्त्व का उपादान में अप्रवेश- मोटे दृष्टान्त में, कभी कोई किसी को गाली देता है तो जिसका नाम लेकर गाली दे रहा है और उसमें क्रोध आ गया तो गाली देने वाले पुरुष ने अपने प्रभाव से, अपने असर से, अपने परिणमन से दूसरे में क्रोध उत्पन्न नहीं किया, किन्तु वहाँ ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध है कि स्वयं अपराधी वह पुरुष था जो क्रोध में आ रहा है। सो गाली देने वाले की बात को अपने आपमें

घटाकर अपने ऊपर अर्थ लगाकर स्वयं कार्य करने लगता है, ऐसे ही सर्वत्र पदार्थों का परस्पर में निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्मों का उदय होता है और अशुद्ध जीवों में उसका निमित्त पाकर कल्पनाएँ होने लगती हैं और इस प्रकार के सम्बन्ध से यह चलने लगता है। कभी एक ही पदार्थ विभावों की गाड़ी नहीं चला सकता है। यद्यपि विभाव प्रत्येक पदार्थ में केवल अपने-अपने में ही होता है। दो पदार्थ मिलकर विभावरूप नहीं परिणमते हैं, अथवा किसी पदार्थ के विभाव को दूसरा पदार्थ ग्रहण नहीं करता है लेकिन विभाव परिणमन में कोई निमित्त होता है और परिणमने वाला कोई पदार्थ उपादान होता है, ऐसी स्थिति के मर्म के जानकार ज्ञानी-संत यह निरखा करते हैं कि मैं रागद्वेष रहित अविकार-स्वभावी हूं। मेरे स्वभाव से ही विकार नहीं उठा है किन्तु अशुद्ध योग्यता जो थी वह उपाधि का निमित्त पाकर अपने परिणमन में लग गयी। मैं वस्तुत: एक निज स्वरूपमात्र हूं। अविकार-स्वभाव का ज्ञानी को दृढ़ श्रद्धान है, इस कारण यह ज्ञानी पुरूष अपने आपको भिन्न भाता है एवं इस सर्व विविक्त ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र शुद्ध चैतन्यस्वरूप का आलम्बन करके शुद्ध पर्याय को प्राप्त कर लिया करता है।

अविकार विलास का उपाय- यहाँ अविकृतिकरण का स्वरूप कहा जा रहा है। कैसे यह जीव विकार भाव से हटकर अविकार-भाव में आए, उसका इसमें उपाय दिखाया गया है। ज्ञानीजीव का विकार-भाव में लक्ष्य नहीं है। कोई एक घर बसाकर थोड़ीसी गृहस्थी मानकर उसमें मोह करके यह व्यापक विभु ईश्वर कारणपरमात्मतत्त्व अपने आपको बरबाद कर रहा है। इस जीव की बरबादी है तो मोहममता से, दूसरा कोई बरबादी का कारण ही नहीं है। धन न ज्यादा हो तो कौनसी हानि है और धन हो गया ज्यादा तो कौनसा लाभ लूट लिया? जीव तो अपने विवेक के कारण सुखी रहा करता है धन-वैभव के कारण नहीं, सुखस्वभावी निज आत्मतत्त्व की दृष्टि हो तो वास्तविक सुख पैदा होगा। जिसे यह ही श्रद्धा नहीं कि मैं स्वयं ही स्वरसत: आनन्दमय हूं, वह आनन्द कहाँ से पायेगा? जिसकी दृष्टि बाहरी पदार्थों की ओर लगी है, इतने रुपए आ जायें तो मुझे आनन्द होगा, ऐसा भोजन मिले तो आनन्द होगा, यों जिसकी दृष्टि परपदार्थों की ओर लगी है उससे बढ़कर गरीब दुनिया में कोई नहीं है, क्योंकि वह आकुलित हैं, दु:खी हैं, किंकर्तव्यविमूढ़ है, उसे यथार्थस्वरूप का कुछ परिचय भी नहीं है।

मोह से बोझल जीवन- अनादिकाल से मोही-जीव ने अब तक इतना लम्बा जीवन जिसमें अनन्तकाल व्यतीत हो गया, मोहममता में ही खो डाला। आज मनुष्य हुए हैं तो मनुष्य के बच्चों में रम गए है और कभी पशु था तो पशु के बच्चों में यह रमा था। अब आगे जो-जो कुछ बनेगा वहां के ही समागमों में रमेगा। जैसे अतीतकाल के, अतीतभव के समागम में से एक भी समागम आज नहीं है इसी प्रकार इन वर्तमान समागमों में से भविष्यकाल में एक भी समागम न रहेगा। ज्ञानबल से नहीं बढ़ा सकते हैं, बाह्यपदार्थों की आशा कर करके अपनी कायरता बढ़ा करके वे पुरुष व्यर्थ ही अपना जीवन ढो रहे हैं, उनकी जिन्दगी उनके लिए बोझ है। अपने को अविकारस्वरूप निरखो जिसके प्रताप से ये विकार दूर हो सकें।

बाह्य में शरण का अभाव- इस जगत में हम आपको कोई शरण नहीं है। यदि हो शरण कोई तो नाम लेकर आंखों के सामने रखकर निर्णय कर लो, कौन अपने लिए शरण हो सकता है? जगत में जितने भी जीव हैं वे सब कर्मों के प्रेरे हैं। जिन-जिन से समागम होता है, जिन-जिन से पाला पड़ता है वे अपनी कषाय बुझायें या तुम्हारा परिणमन करें। कुछ तो निर्णय करो। क्या किसी जीव में ऐसी सामर्थ्य है कि वह अपना परिणमन न करके दूसरे का परिणमन कर सके? वस्तु के स्वरूप में भी यह बात नहीं है। प्रत्येक पदार्थ में द्रव्यत्व व अगुरुलघुत्व के कारण स्वयं अपने आपमें परिणमन होता रहता है, फिर किसकी आशा

करना? क्या धन, वैभव में ऐसी सीमा हे कि लाख रुपया हो जाय तो सुख मिलता है अथवा 10 लाख हो जायें तो सुख मिलता है? कोई सीमा हो तो बतलावो? अरे सीमा की बात तो जाने दो, जितना धन मिलता है उतनी ही तृष्णा बढ़ती है, उतना ही क्लेश बढ़ता है, उतनी ही रक्षा की चिन्ता होती है, उतनी ही विडम्बना सामने आती है। अरे किसलिए यह मनुष्य-जीवन पाया है, क्या धन जोड़ने के लिए पाया है? क्या विषयों को भोगने के लिए पाया है?

जीवन के सदुपयोग पर दृष्टिपात- इस अनादि संसार में भ्रमण करते-करते श्रेष्ठ मनुष्यभव पाया है तो इसका यह सदुपयोग करो कि शास्त्राभ्यास से, प्रभुभक्ति से, आर्य-पुरुषों की संगति से, गुणियों के गुणगान से, दोष-दृष्टि से दूर रहकर आत्मतत्त्व की बात देखो। मिला हुआ समागम, मिला हुआ वैभव, छिद जावो, भीद जावो, कोई लेता हो तो ले जावो, किसी भी दशा को प्राप्त होओ, हम तो अपने आपके इस परमार्थस्वरूप की दृष्टि करके तृप्त रहेंगे। इस संसार में कोई भी जीव शरण नहीं है, किसकी ओर दृष्टि देते हो शरण है कोई तत्त्व? सर्व-विकल्प मेटो, सर्व परपदार्थों को भूल जावो, परम-विश्राम से बैठो, इस शरीर से भी न्यारा, इन कर्मों से भी न्यारा जो एक ज्ञानानन्द पुन्ज है, जो अपना असली मर्म है, मूल पते की बात है उस स्वरूप रूप अपना विश्वास करो।

यथार्थ प्रतीति का प्रसाद- मैं ज्ञानानन्दमात्र ही हूं, ऐसी प्रतीति ही वास्तविक शरण है। इस प्रतीति के बल से ही साधु-संत पुरूष घातिया कर्मों का नाश करके अरहंत हुए हैं, जिनके केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त सुख, अनन्त शक्ति प्रकट हुई है, जिनकी मूर्ति स्थापित करके हम आप सब भव्यजन वंदन करते हैं और इन्होंने धर्मपालन किया है ऐसा मानकर संतुष्ट होते हैं। वह सब अन्य सर्व से विविक्त ज्ञानानदस्वरूपमात्र अपने आपकी श्रद्धा का फल है। वे ही अरहन्त फिर बाह्य मल को भी दूर करके अघातिया कर्म और इस शरीर से भी छूटकर केवल शुद्ध आत्मस्वरूप रह गए हैं, उन्हें सिद्धप्रभु कहते हैं। जिसकी प्रतीति के बल से शुद्ध ज्ञानानन्दमय परिणमन होता है उस इस आत्मतत्त्व की प्रतीति ही वास्तविक शरण है। एक बार तो अपने जीवन में साहस करके निरख तो लो अपने आपमें बसे हुए इस ज्ञानस्वरूप परमात्मा को। फिर कृतार्थ हो जावोगे।

समागम की मायारूपता- ये मायामय पदार्थ तो छल-कपट से भरे हुए मोह-नींद के दृश्य हैं, ये रहें तो क्या, न रहें तो क्या, आखिर वह समय तो आयेगा ही कि कुछ न रहेगा, सब कुछ छोड़कर जाना ही होगा तो जिस सम्पदा को हम छोड़कर उस सम्पदा को छूटा हुआ दो मिनट भी अपने आपमें विश्वास नहीं कर सकते। जो सदा के लिए छूट जायेगा उसके प्रति यह मुझसे छूटा ही हुआ है ऐसी कुछ सेकेण्ड की प्रतीति आये और उस विश्वास के बल से समस्त परपदार्थों के विकल्प को भुला दीजिए, तो आनन्दमय यह परमात्मतत्त्व अब भी अपने आपके स्वरूप में दृष्ट हो जायगा। यह आत्मा निरन्तर प्रतिसमय द्रव्यकर्म और नोकर्म के समूह से रहित है। इस समय यद्यपि यह जीव इस शरीर में कसा हुआ है शरीर से अलग कहीं जा नहीं सकता। जब शरीर चलता है तो आत्मा भी जाता है ऐसा यह शरीर में इस तरह बँधा हुआ है तिस पर भी यह आत्मा शरीर के स्वरूप से अत्यन्त जुदा है, प्रतिसमय जुदा है। ऐसा नहीं है कि किसी समय शरीर और आत्मा एक हो जायें और कभी भिन्न हो जायें। यह आत्मा तो अपने स्वरूपचतुष्टय की तन्मयता के कारण सदा परद्रव्यों से भिन्न है, शुद्ध है। इस आत्मा की यह प्रकृति है कि वह शान्तभाव में रमण किया करे। यह सदा आनन्दगुणस्वरूप है।

आत्मा का बाह्य वैभव से असम्बन्ध- केवल चैतन्य चमत्कार ही आत्मा की मूर्ति है। इसका एक भी तो अणु नहीं है कुछ, इन स्कंधों की बात तो दूर जाने दो। किन्तु, अहो कितना मोह का प्रबल प्रताप संताप बना हुआ है कि सबसे अत्यन्त न्यारा है यह जीव। एक पैसे से भी इस जीव का सम्बन्ध नहीं है, परमाणुमात्र भी संयोग नहीं है, लेकिन यह मोही जीव कल्पना में अपने आपको धनी समझता है, वैभववान् समझता है। लोक व्यवस्थावों के कारण कदाचित् हो गया ऐसा प्रबन्ध कि आपके जिम्मे एक, दो, चार मकान हैं और कुछ वैभव है, ऐसे ही सबके अपने-अपने अधिकार में कुछ-कुछ वैभव है, फिर भी किसी का कुछ भी नहीं है, यह तो मोहियों ने अपने आराम के लिए विषय-साधनों के लिए व्यवस्था बना ली है। राज्य ने, सरकार ने, पंचायत ने कानून बना लिया है कि हम सब मोहियों के मोह के साधन ठीक-ठीक चलते रहें। यह मोहियों की कृत्रिम व्यवस्था है कि किसी के घर है, दुकान है, मकान है, वैभव है, पर परमार्थ से किसी का अणुमात्र भी नहीं है। ऐसे सर्व विविक्त इस अविकारी स्वभाव को जो नहीं निरख सकते हैं उनको कल्याण का मार्ग, शान्ति का मार्ग कदापि नहीं मिलता।

मोह में मोहियों के प्रसंग की रुचि- यह जीव मोहियों में, अज्ञानियों में अपना नाम चाहता है। जो स्वयं दु:खी हैं, कर्मों के प्रेरे हैं, जिनका कुछ उनके लिए भरोसा नहीं है, आज मनुष्य हैं और कल मरकर कीड़ा हो जायेंगे, कुछ भी बन जायेंगे, जो स्वयं दु:खी हैं- ऐसे पुरुषों में नाम की चाह, यश की चाह उत्पन्न करना, इसको कितनी मूढ़ता कहोगे? इसे अपने अविकारी स्वभाव का कुछ ध्यान ही नहीं है। अरे, यह मैं स्वयं ही अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द के स्वभाव वाला हूं। इस स्वभाव का आश्रय किया जाये तो अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द प्रकट होता है। इस उपयोग द्वारा किन्हीं बाह्य बहिरात्मा पुरुषों का कल्पित आश्रय किया जाये तो उससे क्या प्राप्त होगा? विकार बढ़ते हैं, क्लेश होता है, विपदा आती है। यह आत्मा स्वयं अन्त:शुद्ध है। यह अपने इस शुद्ध स्वरूप का आश्रय करे तो मोह का अभाव होता है। मोह मिटा कि सर्वसंकट मिट गये। मोह मिटने पर फिर यह किसी भी परवस्तु का ग्रहण नहीं कर सकता।

मायावैभव की असारता व आत्मनिधि का प्रसाद- भैया ! मान लो आज 50 हजार का धन है और क्या ऐसा नहीं हो सकता था कि 10 हजार के ही धनी होते अथवा क्या यह नहीं हो सकता था कि भिखारियों की तरह भीख मांगकर पेट भरते? कौनसी स्थिति सम्भव नहीं है। कौनसी स्थिति इस मोही पुरुष के नहीं हुआ करती है? आज 50 हजार में से कभी दो हजार का भी घाटा पड़ता है तो यह जीव बड़ा विकल होता है कि हाय ! इतना नुकसान हो गया। जैसे कि मानों उसके प्राणों का छेदन-भेदन किया गया हो। अरे, एक अणुमात्र भी तो तेरा नहीं है। तू तो केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र है। क्यों परतत्त्वों में मोहभाव करके अपने आपको बरबादी की ओर लिये जा रहा है? यह आत्मत्त्व अविनाशी अनन्त गुणों का समूह है। जिसने इस तत्त्व को अपने अनुभव में लिया है, उसे इस शुद्ध भाव के आश्रयरूप अमृत के द्वारा अथवा इस अमृत का पान करके अपने को अमर बना लिया है और इस ही अमृत-सागर में डूबकर, मग्न होकर समस्त पाप-कलंकों को धो डाला है।

ज्ञानी के अनर्थ कोलाहल का अभाव- जो ज्ञानी संत हुए हैं, जिनको अपने आनन्द के स्रोत का परिचय हो जाता है, उनके फिर इन्द्रिय का कोलाहल नहीं रहता है अर्थात् बहिरात्म अवस्था में जो इन्द्रिय विषय-साधन के लिये तड़फा करता था, पंचेन्द्रिय के विषयों के भोगों में ही अपना महत्त्व माना करता था, अब इस निर्भ्रांत पुरूष के यथार्थ प्रकाश का उदय हुआ है, अब इसके इन्द्रियसमूह में रंच भी कोलाहल नहीं है, उसकी दृष्टि अब विषयसाधनों में नहीं फँसती है। जो शुद्ध आत्मा ज्ञानज्योति द्वारा समस्त अंधकार को नष्ट

कर देता है और अपने आपमें नित्य शुद्ध प्रकाशमान् रहता है- ऐसे आत्मतत्त्व का आलम्बन करना ही वास्तव में शरण है। इसके अतिरिक्त जगत् में अन्य कोई पदार्थ इस जीव के लिये शरणभूत नहीं है।

संतप्तलोक में योगीश्वरों का शान्त निवास- यह संसार घोर दु:खों से भरा हुआ है। इसमें बसने वाले जीव प्रतिदिन रौद्रध्यान से और आर्तध्यान से संतप्त रहा करते हैं। इस लोक में कोई भी भव ऐसा नहीं है, कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है, जहाँ यह कर्मसहित जीव किसी भी समय सहज शान्ति को प्राप्त कर ले। कर्मों से प्रेरित हुए थे संसारी जन दु:खों से निरन्तर तप्तायमान् रहते हैं। ऐसे इस दु:खव्यापक लोक में एक मुनीश्वर ही समतारूप अमृत को प्राप्त करते हैं अथवा शान्तिरूपी बर्फ के गृह में बसा करते हैं। जिन दिनों गर्मी के दिनों में ऐसी लू चला करती है, जहाँ चलते-फिरते, घर से बाहर निकलने पर अनेक पुरुष मरण कर जाते हैं- ऐसी तीव्र लू से व्याप्त ग्रीष्मकाल में कोई महाभाग ही बर्फीले घर में निवास करता है ऐसे ही अनेक दु:खों से व्याप्त सम्पदा, वैभव के क्लेशों से पीड़ित इन दु:खी जीवों से भरे हुए लोक में निकटभव्य मुनीश्वर ही शान्तिगृह में निवास करते हैं। उनका उपयोग शान्ति और आनन्द का अनुभव करने वाला होता है। यह शान्ति किसके प्रसाद से प्राप्त हुई है? यह शान्ति केवल शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टि के प्रसाद से प्राप्त हुई है।

सर्वदा मुक्ति- जो एक बार भी इस द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से मुक्त हो जाता है, वह फिर भविष्य में किसी भी विभावों को प्राप्त नहीं हो सकता है, वह मलिन रागी द्वेषी कभी नहीं बन सकता है। कैसे बने मलिन? मलिन परिणामों का कारण था पुण्य पाप कर्म। सो उस कर्मजाल का तो विनाश हो गया है और इन कर्मजालों का कारण था सुकृत और दुष्कृत परिणाम, सो इन परिणामों का भी अभाव हो गया है। अब यह मुक्त प्रभु भविष्यकाल में कदाचित् भी विभावों को प्राप्त नहीं हो सकता है।

कर्मविलय का स्वाधीन उपाय- कर्म यद्यपि इस जीव के क्लेशों की उत्पत्ति में निमित्त हैं, फिर भी कोई जीव संकटों से मुक्त होना चाहता है तो वह कर्मों में क्या करेगा? कर्म पौद्‌गलिक हैं, भिन्न तत्त्व हैं, भिन्न पदार्थ हैं। कोई भी पदार्थ किसी भिन्न पदार्थ में अपना परिणमन नहीं कर सकता है। क्या करेगा आत्मा इन कर्मों के विनाश के लिये? कर ही नहीं सकता कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ का विनाश। उसके विनाश का उपाय बन सकता है, पर विनाश नहीं कर सकता है। कर्मों के विनाश का उपाय कर्मों में कुछ करना नहीं है, किन्तु अपने आपमें एक शुद्ध ज्ञानप्रकाश लेना है, जिस ज्ञानानुभूति के कारण सुकृत और दुष्कृत परिणाम नष्ट हो जायेंगे। बस सुकृत और दुष्कृत परिणाम न रहें तो ये कर्म अपने आप ही अपना रस सोख लेंगे और क्षीण हो जायेंगे, छूट जायेंगे। इन कर्मों से मुक्ति पाने का उपाय केवल सुकृत और दुष्कृतरूप परिणामों का विनाश है, इसलिये अब मैं सुकृत और दुष्कृत दोनों प्रकार के भावकर्मजालों को छोड़कर एक उस शुद्ध मार्ग पर जाता हूं, जिस शुद्ध मार्ग पर चलकर मुमुक्षुजन सर्वथा शुद्ध विलास वाले हो गये हैं। सर्वसंकटों से मुक्त होने का उपाय केवल यह ही है कि सर्व पर से विविक्त निज स्वरूपास्तित्त्वमात्र चैतन्यस्वभाव का आश्रय करे और शुभ-अशुभ भाव, सुकृत-दुष्कृत भाव- इनसे हटा जाये तो फिर ये कर्म अपने आप ही हट जायेंगे। कर्मों पर दृष्टि देकर इनके विध्वंस का उपाय चाहें तो नहीं हो सकता है।

अविकार पद का आलोचन- यह परम-आलोचक ज्ञानी-सन्त अपनी आलोचना कर रहा है। आलोचना नाम भली प्रकार देखने का है। देखने का ही नाम लोचन है। लोचन नेत्र को कहते है। जैसे नेत्र का काम स्पष्ट देख लेना है, इसी प्रकार आलोचना का काम अपने आपके सहज शुद्ध स्वरूप को स्पष्ट देख लेने का है।

यह मैं आत्मा शरीर से रहित हूं, द्रव्यकर्म से रहित हूं और भावकर्म से भी रहित हूं। इस प्रकार इन तीनों प्रकार के समागमों से रहित जो इसका यथार्थ सहजस्वरूप है, वह दिखने में आ गया तो परम-आलोचना हो गई और इस परम-आलोचना के प्रसाद से मोक्ष का लाभ निश्चित् हो गया।

आत्मा की भवमूर्ति से विविक्तता- यह मैं आत्मा शरीर से रहित हूं। यह शरीर भवमूर्ति है। संसार किसे कहते हैं? इसको स्पष्ट जानना हो तो इस शरीर को देखकर ही बता दीजिये कि इसका नाम संसार है। लोग कहते हैं कि दुनिया बड़ी चालाक हो गई है। वह दुनिया कौनसी है, जो चालाक हो गई है? क्या ये पत्थर, लकड़ी? नहीं। ये चलते-फिरते शरीरधारी मनुष्य ही उनकी निगाह में दुनिया हैं। यह दुनिया चालाक हो गई है अर्थात् इस दुनिया में बसने वाले मनुष्य चालाक हो गये हैं। संसार की मूर्ति यह शरीर ही है। दुनिया का रूपक यह शरीर है। यह शरीर स्थिर नहीं है, क्योंकि इस शरीर में पुद्‌गल स्कंध आते हैं और जाते हैं। हम आप सबके शरीर में बहुत से पुद्‌गल स्कंध प्रतिक्षण आते रहते हैं, बहुत से जाते रहते हैं। जब शरीर पुराना हो जाता है तो पुद्‌गल स्कंधों का आना कम हो जाता है और उन पुद्‌गल स्कंधों का खिरना अधिक होता रहता है। इसी का नाम बुढापा है, पर जब तक भी आयु है, तब तक यह भी नहीं होता कि पुद्‌गल स्कंध जाते ही जाते हैं, आते नहीं हैं। यह भी नहीं होता कि पुद्‌गल स्कंध आते ही आते हैं, जाते नहीं हैं। जब पुद्‌गल स्कंधों का आना अधिक रहता है उसे कहते हैं जवानी, अर्थात् चढ़ती उमर और जब इन स्कंधों का निखरना ज्यादा होता है, आना कम रहता है तो उसे कहते हैं- ढ़लती अवस्था।

भवमूर्ति की अस्थिरता- यह शरीर पुद्‌गल स्कंधों के आने-जाने से बना हुआ है, इसी कारण यह शरीर अस्थिर है। कभी दस-पाँच वर्ष बाद किसी को देखो तो मालूम पड़ता है कि यह तो आदमी बदल गया है या दुर्बल से मोटा हो गया है या मोटा से दुर्बल हो गया है, यह तो बदल गया है। यह बदलना 5 वर्ष में नहीं हुआ है, प्रतिक्षण बदलना हो रहा है और कितना ही आकार रंग तो इस मनुष्य में रोज-रोज बदलता नजर आता है। सुबह आकार-रंग कुछ और है, दोपहर को, शाम को आकार-रंग कुछ और है, जाड़े के दिनों में आकार-रंग कुछ और है, गर्मी के दिनों में कुछ और है।। यह शरीर अस्थिर है। इस भव की मूर्ति को मैं अपना कैसे मानूँ? यह तो पौद्‌गलिक है, मायारूप है, अस्थिर है, मिट जाने वाला है, मुझसे अत्यन्त भिन्न है और जब तक लगा भी हुआ है तब तक केवल क्लेश का कारण है। इस शरीर के कारण कुछ हित नहीं पाया। ऐसे इस शरीर को छोड़कर मैं सदा शुद्ध ज्ञानशरीरी आत्मतत्त्व का ही आश्रय करता हूं।

भवरोग- अहो ! इस मेरे को अनादि काल से यह संसार का रोग लगा हुआ है। यहाँ कौनसी स्थिति ऐसी है पाकर मैं अपने को सुखी मान लूँ। मान लो घर धन से भर गया तो उस धन का क्या करें? कौनसा जब तक धन है तब तक भी क्लेश है, जब धन छूटेगा तब भी क्लेश होगा। इस धन का क्या करें? कौनसा तत्त्व ऐसा है जिसका हम आश्रय करें तो वास्तव में शान्ति का हम अनुभव कर सकेंगे। ये परिजन-समूह, पुत्र-स्त्री, मित्रादिक ये सब मिल गये हैं, बहुत हो गये हैं, परिवार बढ़ गया है इस परिवार का क्या करें? इस परिवार के खातिर क्लेश ही उठाना पड़ता है। वास्तविक शान्ति तो प्राप्त हो ही नहीं सकती है क्योंकि परिवार के लोगों की प्रवृत्तियां ऐसी होंगी जिनको निरखकर मोह के कारण या तो यह अनुराग बढ़ायेगा या द्वेष बढ़ायेगा। वह सम्बन्ध ही ऐसा है कि उन्हें समतापरिणाम नहीं रह सकता है। या तो राग में बढ़ जायेगा या विरोध में बढ़ जायेगा। इनसे भले तो वे गैर पुरूष हैं जिनसे कुछ परिचय नहीं है, उन्हें देखकर न राग होता है, न विरोध होता है। उनके बीच इस समतापरिणाम का भान कर सकते हैं।

शरण्य तत्त्व- भैया ! किसका सहारा लें जिस सहारे से मेरा यह संसार का क्लेश मिट जाय? ये प्रतिष्ठा यश की बातें तो सबसे विकट संकट है। उस ओर दृष्टि होने पर उसका ज्ञानबल घटता जाता है और ऊपर से पोलखाता बढ़ता जाता है। जिसको अपने यश नामवरी की अन्तर से इच्छा होती है उसका ज्ञानबल दूर हो जाता है और जो कुछ उसकी मुद्रा, वातावरण, लोकढांचा, व्यवस्था जो कुछ भी बनती है वह खोखली हो जाती है, उसका पणित्म अत्यन्त भयंकर निकलता है। किस तत्त्व का सहारा लें कि जिससे यह संसार के रोग दूर हो जायें? सहारा लेने योग्य है वह निज शुद्ध चैतन्यस्वरूप जो शुभ-अशुभ भावों से रहित है, मेरा ही स्वरूप है, मुझमें शाश्वत विराजमान् है।

अभीष्ट मार्ग- भैया ! अब तो केवल एक मार्ग चाहिए जिस मार्ग से अपना प्रकाश चले, वह मार्ग मिले तो यह शुद्ध चैतन्यस्वरूप दृष्ट हो जायेगा। वह मार्ग मिलता है तब, जब मार्ग में रोड़े न रहें, उस मार्ग के रोडे हैं ये विषयकषाय। जिन्हें मोही जीव अपना सर्वस्व मानते हैं, जिनके लिये अपना तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्यौछावर हो जाता है, वे सब इसके लिये रोड़े हैं। उन रोड़ों को दूर करें। जब हम निर्विकल्प मार्ग में प्रवेश करते हैं तो ये शुभ-अशुभ से रहित शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व मेरे को दृष्ट होता है। इस शुद्ध तत्त्व की भावना ही मेरे संसार-रोग को दूर करने की उत्तम औषधि है। मैं अन्य सब उपचारों को त्यागकर केवल इस शुद्ध चैतन्यरूप भावनारूप औषधिका ही सेवन करूँ, जिस से यह रागद्वेषरूप संसार का रोग समूल नष्ट हो जाये।

अन्तस्तत्त्व के दर्शन की विधि- यह शुद्ध आत्मतत्त्व हमें दो बुद्धियों से निरखने में आता है- एक तो कार्यसमयसार की दृष्टि देकर और एक कार्यसमयसार की दृष्टि लेकर। कार्यसमयसार शुद्ध परमात्म तत्त्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव- इन पंचपरावर्तनों से मुक्त है और यह कारणसमयसार भी। इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मा में अन्तर में शाश्वत तन्मयता से रहने वाले अपने सत्त्व के कारण सदा अन्त:प्रकाशमान् यह चित्स्वभाव भी समस्त परिवर्तनों से मुक्त है। जो विशेषता सिद्ध परमात्मा की कहो, वही विशेषता इस कारणसमयसार की है। यह परमात्मा शुभ-अशुभ कर्मों से और शुभ-अशुभ भावों से मुक्त हो गया है। यह चैतन्यस्वभाव स्वरसत: ही अनादि से शुभ-अशुभ भाव और कर्मों से दूर है, मुक्त है। यह प्रभु कार्य समयसार, द्रव्यकर्म, भावकर्म से मुक्त है तो यह कारणसमयसार इन समस्त परतत्त्वों से सदा से मुक्त है। यह प्रभु कर्मयुक्त है, सादि मुक्त है। यह कारणसमयसार अनादि मुक्त है। परभावविविक्त अन्तस्तत्त्व के दर्शन में अन्तस्तत्त्व का मिलन होता है।

अनादिमुक्त परमेश्वर- कुछ लोग ईश्वर को सदामुक्त मानते हैं और जो जीव संन्यास धारण करते हैं, तपस्या करते हैं, भक्तिमग्न होते हैं वे मुक्त होते हैं; उन्हें सादिमुक्त कहते हैं। केवल एक ही ईश्वर ऐसा है जो अनादि मुक्त है, ऐसी मान्यता वालों की क्या दृष्टि थी? वह एक स्वरूप तो सदा मुक्त है और ये अनगिनते जीव ऋषि-संत, साधुजन तपस्या करके कर्मों से मुक्त हुए हैं वे सादिमुक्त है। इसमें दृष्टिस्वभाव तथा वस्तु की है। जब स्वभाव को देखा जाय तो वह स्वभाव सदामुक्त है। यह चैतन्यस्वभाव, यह कारणसमयसार अपने स्वरूपसत्त्व के कारण अपने ही केवल स्वरूपमात्र है। इसमें किसी भी परतत्त्व का, परपदार्थ का प्रवेश नहीं है। यह स्वभाव सदा मुक्त है, यही परमब्रह्म है, यही परमेश्वर है। स्वभावदृष्टि जब दी तब सदामुक्त ईश्वर का दर्शन हुआ और जब आत्मवस्तु पर दृष्टि दी, द्रव्यक्षेत्रकालभावचतुष्टयात्मक चैतन्य पदार्थ पर दृष्टि दी तब इसकी समस्त रूप-रेखाएं भी जानने में आयीं। कर्मों से घिरा, कर्मों से पिरा, संकटी दृष्ट हुआ यह आत्मपदार्थ अपने आपमें बसे हुए स्वभावरूप परमेश्वर की भक्ति करे, उसकी दृष्टि

करे तो इसका जितना भी बाह्य वातावरण है, रूपरेखा है वह सब दूर हो जायेगी। अब इसको सादिमुक्त कहते हैं।

सर्वजीवों में अनादिमुक्त पारमैश्वर्य- भैया ! जो सादिमुक्त हुआ है उसमें भी अनादि मुक्त तत्त्व है। जो अब तक मुक्त नहीं भी हुआ है ऐसे समस्त संसार प्राणियों में भी वह अनादिमुक्त परमेश्वर विराजमान् है। तत्त्व की बात तो यह है किन्तु दोनों दृष्टियों को शुद्ध न रखकर एक ईश्वर को ही सृष्टि का कर्ता मान डाला। फिर तो लोक-प्रकृति के अनुसार उस ईश्वर को पूरा व्यवस्थापक मान लिया गया। जितने भी मंतव्य है उन सब मंतव्यों में तत्त्व और दृष्टि मूल में अवश्य थी, लेकिन उस मूल डोरी का परित्याग करके जब उसका विस्तार बनाया तो यह विस्तार अब नानारूपों में फैलता गया। यह कारणसमयसार अनादिमुक्त है।

निर्दोष तत्त्वज्ञता की कला- यह प्रभु-परमात्मा जन्म-मरण से रहित है। यह मुझमें विराजमान् मेरे ही सत्त्व के कारण, अंत:प्रकाशमान् यह चैतन्यस्वभाव भी जन्म-मरण से रहित है। स्वभाव और चतुष्टयमय पदार्थ ये दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व नहीं हैं, किंतु उस एक ही चीज को अभेदभाव की दृष्टि से निरखा तो स्वभाव समझ में आया और जब उसे सर्वमुखी दृष्टियों से निरखा तो पदार्थ ध्यान में आया। यह दृष्टियों से निरखने की कला से जब कभी अनभिज्ञ रहा और परिस्थिति के कारण इस तत्त्व की चर्चा भी करनी जारी रखी तो उसका परिणाम इस मन्तव्य के रूप में फूट निकला कि यह परमब्रह्म परमेश्वर कोई अलग सत् है और यह जीव कोई अलग चीज है, किन्तु चेतन पदार्थ तो प्रत्येक एक है, उसको निरखने की कला ही भिन्न-भिन्न हैं।

संकटहारी कारणसमयसार का आलम्बन- इस कारणसमयसार का आलम्बन 5 प्रकार के संसारों से मुक्ति दिलाने वाला है अर्थात् पंच परिवर्तन को दूर करने वाला है। ऐसे इस शुद्ध आत्मतत्त्व की मैं प्रतिदिन भावना करता हूं। यह अनादिनिधन आत्मज्योति वाणी का भी विषय नहीं है, फिर भी इस आत्मज्योति पर अधिकार पाये हुए गुरुजनों के वचनों के द्वारा इसे प्राप्त कर शुद्ध दृष्टि वाला हुआ जा सकता है, जिसके प्रताप से यह सदाकाल में लिये संकटों से मुक्त होगा। यह चैतन्यस्वभाव सदा जयवंत हो, जिसके सहज तेज से रागरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है, जिसका यथार्थ निवास मुनिजनों के हृदय में रहता है। जो अज्ञानी जनों को तो दुर्लभ है, किन्तु ज्ञानी जनों को सदा व्यक्त रहता है- ऐसा आनन्द का निधान यह चित्स्वभाव सदा जयवन्त हो।

गाथा 112

मदमाणमायलोहविवज्जियभावो हु भावसुद्धित्ति।

परिकहियं भव्वाणं लोयालोयप्पदरिसीहिं ।।112।।

भावशुद्धि नामक आलोचन का स्वरूप- आलोचना के चार लक्षणों में यह अंतिम लक्षण है भावशुद्धि। कामवासना, घमण्ड, कपट और लोभ से रहित जो परिणाम है, उसका नाम भावशुद्धि है। ऐसा लोकालोक के जानन देखनहार सर्वज्ञ देव ने कहा है। आलोचना से दोषों का निरावरण होता है। जैसे व्यवहार आलोचना पाठ में कहा गया है कि ''तिनकी अब निरवृत्ति काजा'' अर्थात् जो मैंने दोष किया है, उनको दूर करने के लिये मैं आलोचना करता हूं। आलोचना का अर्थ है दोषों का प्रकट करना। मैंने यह अपराध किया है, मैंने विषयकषायों से प्रीति की है, पाप किया है, उनको अपने आप मन से, वचन से निवेदन करना, सो आलोचना है। आलोचना का जितना अन्तरंग रूप हो जाता है, उतनी ही आलोचना विशुद्ध

कहलाती है और जब आलोचना का रूप विशेष अतिशवान् हो जाता है तो परमतत्त्व ज्ञानी पुरूष दोषों की आलोचना न करके गुणों का आलोचन करता है अर्थात् शुद्ध भावों का अवलोकन करता है।

श्रेष्ठ आलोचक का लोकदृष्टान्त– जैसे लोक में यह रिवाज है कि जो बड़े पुरुष होते हैं, वे किसी के दोषों का वर्णन नहीं करते। किसमें क्या दोष हैं, उनका बखान नहीं करते हैं और कदाचित् दोषों का निरूपण करना आवश्यक हुआ तो गुणियों के दोषों का विशेष वर्णन कर लेते हैं। किसी गुणी पुरुष के गुणों का वर्णन करने से दोषी पुरुषों के दोषों की आलोचना हो जाती है। ऐसे ही जब शुद्ध निश्चय आलोचना में प्रवेश हो रहा है तो यह आलोचक ज्ञानी पुरुष दोषों पर भी दृष्टि न देकर केवल अविकारस्वभाव शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व परदृष्टि देता है।

बाहर में शरण का अभाव- इस लोक में जीव को बाहर में कुछ शरण नहीं है, यह बात पूर्ण प्रमाणभूत है, इसमें रंच संदेह नहीं है। कौनसा बाहरी पदार्थ हमारी शान्ति का कारण बन सकता है? अरे जो भी पदार्थ हैं वे अपने परिणमन में लगें या तुम्हारी फिकर रखें। वस्तु में ऐसा स्वरूप ही नहीं है कि कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु का कुछ परिणमन कर दे। बाहर में अणुमात्र भी कुछ शरण नहीं है। बड़ी सम्पदा, बड़ा राज्य ये भी जीव को क्लेश के ही कारण हुए हैं। जिनके ये हैं उन्हें देख लो, जिनका इतिहास है उन्हें निरख लो, और मान लो इस दुनियावी दृष्टि से धन, वैभव, राज्यपाट होने से कुछ प्रभाव और असर भी बढ़ा तो क्या हुआ, यह दो दिन की चांदनी है फिर तो नेत्र मुद जाते हैं, जिन्होंने इतिहास में बहुत नेतागिरी का काम किया है, बड़े राजपाट भी सम्भाले हैं वे भी आज नहीं हैं। उनका समय था, उन दिनों वे बाह्य-पदार्थों की ओर दृष्टि करके अपना परिणमन कर गये, किया कुछ नहीं। इस लोक में अन्य पदार्थ कुछ भी शरण नहीं हैं। यदि वैभव सुख की चीज होती तो वैभववान् पुरुष भी क्यों एक विशुद्ध, निर्ग्रंथ, निष्कषाय ज्ञानपुन्ज की उपासना करते, जिनके पास आरम्भ नहीं, परिग्रह नहीं, जिनकी हम आप उपासना करते हैं।

भावशुद्धि की अतुल सम्पदा- भैया ! वैभव में सुख नहीं है, सुख तो शुद्ध ज्ञान में है। यह बुद्धि शुद्ध रहे, बिगड़े नहीं इस ही में आनन्द है। सम्पदा का कुछ भी हो, थोड़ी रहे, बहुत रहे, रहे अथवा कहीं जाय, उस से इस आत्मा पर बिगाड़ का प्रभाव नहीं पड़ता है किन्तु स्वयं की बुद्धि यदि बिगड़ जाय, अव्यवस्थित हो जाय, तो इस जीव का बिगाड़ है। यही एक बड़ी सम्पदा है कि अपना ज्ञान सँभला हुआ रहे कभी भी खोटे भावों का इसमें उदय न आये, दुर्भाव करके कभी किसी का धन, वैभव भी मिल जाय, हड़प लिया जाय तो यह सम्पदा नहीं है, विपदा है, आत्मा पर खोटे भाव आना ही विपदा है। भावशुद्धि का बड़ा महत्त्व है। जो भी आराध्यदेव हुए हैं वे भावशुद्धि के ही तो फल हैं। जितने भी साधु-संत हुए हैं अथवा हैं वे भावशुद्धि के ही तो प्रतीक हैं।

मनोजविवर्जित भाव में भावशुद्धि- यह भावशुद्धि नामक परम-आलोचना का स्वरूप कहा जा रहा है, और इस भावशुद्धि के स्वरूप के वर्णन के साथ-साथ यह परमआलोचना नामक अधिकार समाप्त होगा। इस अधिकार के उपसंहार में यह अंतिम गाथा है। काम, मान, कपट और तृष्णा से रहित परिणाम का नाम भावशुद्धि है। जब तीव्र चारित्र-मोह का उदय आता है तो वेद नामक कषाय का विलास विकार होता है ना, उसका नाम मद है, मदन याने काम-विकार है, इस विकार का नाम मनोज है। जैसे शरीर में फोड़ा फुंसी हो जाती है तो कुछ चीज तो है। फोड़ा हो, फुंसी हो, रोग है, पीड़ा है अथवा भूख-प्यास लगे तो बताया तो जा सकता है कि शरीर में इस भांति की वेदना है, किन्तु जो कामविकारी की पीड़ा है, स्त्री-पुरुष विषयक मैथुन सम्बन्धी जो अन्तरंग कलुषित परिणाम है वह परिणाम कौनसे शरीर की पीड़ा है? उसमें क्या आँख में दर्द है, मस्तक में है, पैर में है, कहाँ पीड़ा उत्पन्न होती है, कुछ भी वहां तत्त्व नहीं है, किन्तु

वह केवल मनोज है। मनोज कहते हैं मन की कल्पना को। कामी-पुरूष मन की कल्पना जब काम-विकार सम्बन्धी करता है तो उसे कुरूप, नीच शरीर भी सुहाने लगता है। यह मदन अथवा काम-विकार सब भाव-विकारों का सरताज है। जहाँ काम-वासना रहती है वहाँ आलोचना नहीं हो सकती। यह महादोष है इस महादोष से रहित जो भाव है उसका नाम भावशुद्धि है।

निरहंकारता में भावशुद्धि- अहंकार भी विकार-भाव है। मानी पुरुष अपने मान-विकार को दोष नहीं समझ पाता है, दूसरे लोग जानते हैं कि यह व्यर्थ किसी बात पर ऐंठ रहा है। कोई कला की बात तो है भी नहीं। ऐंठ इतनी बड़ी बना रखी है। इस दुनिया में कौनसी कला ऐसी है जो ऐंठ के लायक हो? कुछ नेतागिरी करने लगे, व्याख्यान देने लगे, बोलने की कला बन गयी तो कितना लोग अहंकार करते हैं? जो आत्मा लोकालोक को जाननहार स्वभाव रखता है, विश्वज्ञ बन सकता है ऐसी विश्वज्ञता की सामर्थ्य रखने वाला एक छोटी विकसित कला पर घमंड बगराये तो यह बुद्धिमानों का हास्य का पात्र है।

कल्पित चतुराई के मद में आत्मनिधि पर कुठाराघात- इस जीव के साथ नाना प्रकार के कर्म लगे हुए हैं उन कर्मों में एक आदेय नाम का भी कर्म है, जिसके उदय में कुछ ऐसा पुण्य वातावरण बनता है कि लोग उसकी कुछ प्रभुता करने लगते हैं, पर जैसे जिस मरुस्थल में, जिस देश में एक भी पेड़ नहीं है और वहाँ किसी घास के बीच में कोई एरण्ड आदि का पेड़ मिल जाय तो वहाँ वह वृक्षराज कहलाता है, ऐसे ही इस दुनिया में मूर्खों के अन्दर, मोहियों के बीच कुछ-कुछ वचन चतुरता के कारण, धोखा छल कपट के कारण या किसी प्रकार की बुद्धि विकास के कारण कुछ महिमा बढ़ा ली तो वह मूढ़ों का सिरताज मरुस्थल में घास के बीच में उगे हुए एरण्ड-वृक्ष का सरीखा मालूम होता है। भले ही वह घमंड करे, पर घमंड के लायक कला कुछ नहीं है। जो पुरुष अपनी छोटी-छोटी कला पर घमंड करने लगते हैं वे अपनी महान् निधि पर कुठाराघात करते हैं। जिस आत्मा में इतनी अत्यन्त सामर्थ्य है कि वह समस्त लोक का जाननहार रहे, अनन्त आनन्द से भरपूर रहे वह अपनी तुच्छ कला पर घमंड करके अपने स्वभाव को ढक रहा है, ठग रहा है। कौनसी चतुराई ऐसी है जो कुछ सारभूत हो और अहंकार के लायक हो?

कुलमद का दुष्परिणाम- कई लोग अपनी उत्पत्ति पर ही गर्व करते हैं। कुछ लोग मान्य कुल में पैदा हो गये, माता और पिता का बड़ा घराना मिल गया, अच्छा कुल मिल गया तो उस पर ही घमण्ड किया करते हैं। मैं बहुत बड़े कुल का हूं। अरे, इस आत्मा में कहाँ कुल लगा हुआ है? यह तो चैतन्यस्वरूपमात्र है। अपने आत्मा के भीतर की कला को तो देखो, यह केवल जानन देखनहार रहा करे- ऐसा विशुद्ध उत्कृष्ट कलावान् है। इसमें कुल कहाँ पड़ा हुआ है, जाति कहाँ लगी हुई है? यद्यपि व्यवहार में यह सब चलता है अपनी रक्षा के लिये। यदि हम श्रेष्ठ आचार-विचार वालों में न रमें, उनकी संगति छोड़कर नीच आचार-विचार वाले समूह में लग जायें तो उसमें तो बरबादी है। इस कारण इस आचार-विचार के कारण प्रसिद्ध हुए नीच कुल की संगति नहीं करनी चाहिये, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि हम उच्च कुल में पैदा हो गये या उच्च कुल में आ गये तो हम घमण्ड करने लगें। उच्च कुल के मद के फल में मरण के बाद में नीच कुल में दुर्गतियों में उत्पन्न होना पड़ेगा।

कुलीनता का सदुपयोग- उच्च कुल का मिलना घमण्ड करने के लिये नहीं होता है, किंतु आत्मस्वरूप का मनन, चिंतन, अध्ययन करके आत्मकल्याण करने के लिये होता है- ऐसी दृष्टि बननी चाहिये और यह धर्मलाभ तब हो सकता है, जब प्राणिमात्र में हम उस एक चैतन्यस्वरूप को निरखें। इतनी विशुद्धि हमारी बढे, इतनी बुद्धि हमारी निर्मल हो कि हम प्रत्येक जीव में उस जीव के उच्च, नीच कुल को न देखकर एक चैतन्यस्वरूप को निरख सकें। कर्मों के उदय हैं। इन उदयों के वश जीव कभी निंद्य कुल में जन्म लेता है

और कभी उच्च कुल में जन्म लेता है। यहाँ स्थायीपन कुछ नहीं है। जो आज ऊँचा है, वह कल नीचा हो सकता है और जो आज नीचा है, वह कल ऊँचा हो सकता है। यह तो संसार की स्थिति है। इसमें आत्मा का कुछ सुधार-बिगाड नहीं है। इसमें जो फँसता है और यहाँ रहकर जो अपने को उस अनुकूल अभिमान और दीनता की वृत्ति लाता है, उस परिणाम से सुधार-बिगाड है। उच्च कुल का घमण्ड भी अपने आपको बरबाद करने का कारण होता है। इन कर्मों से रहित जो निर्मल परिणाम है, वह भावशुद्धि है। यही है निश्चय परम-आलोचना।

देहबल की अपनायत से आत्मबल का विनाश- कितने ही पुरुष अपने शरीरबल का घमण्ड करने लगते हैं। शरीरबल आत्मा के गुणों को तिरोहित करके प्रकट होने वाला अशुद्ध विकार है। शरीरबल से यदि जीव की महिमा जानी जाये तो कम से कम इस समय हम आपसे अधिक महिमा तो गधे की और भैंसे की होनी चाहिये। आजकल हम आपमें सम्भव है कि गधे के बराबर बल नहीं है। एक गधे में जितनी ताकत है, उतनी ताकत इस समय हम आपमें न होगी। तब फिर हम बड़े नहीं हैं। हम लोगों के लिये गधा बड़ा हो जायेगा, क्योंकि शरीर के बल से इस जीव की महिमा का माप किया जा रहा है। अरे, शरीरबल का विकल्प तो आत्मबल का तिरोधान करने वाला विकार है। भले ही कुछ पापकर्म का मंद उदय रह जाये तो शरीरबल रहता है और अपनी-अपनी जातियों में जाति के माफिक शरीरबल होता है। किन्हीं–किन्हीं मनुष्यों में इतना बल होता है कि हजारों सिंह और हाथियों में भी जो बल है, उसे जोड़ लो तो उससे भी कई गुणा अधिक बल मनुष्यों में होता है, पर देहबल घमण्ड के लायक वस्तु नहीं है। जो शरीरबल का घमण्ड करते हैं, वे अपने आत्मा के अतुल बल का विनाश करते हैं।

बल का उपयोग- आत्मा का अतुल बल है समतापरिणाम में। यह अमूर्त आकाशवत् निर्लेप आत्मा किसी परपदार्थ का क्या कर सकता है? केवल मोह में मोही जीव कल्पना ही मचाया करते हैं। उन कल्पनावों से आत्मा का बल क्षीण होता है। जब विशुद्ध ज्ञान का उदय होता है, समतापरिणाम का निवास होता है तो आत्मबल बढ़ता है। आत्मबल बढ़ा हुआ है, इसकी पहिचान है निराकुलता। जो पुरुष परमार्थरूप से निराकुल हैं तो समझो उसमें उतना ही आत्मबल प्रकट है। विह्वल होना, आकुलित होना, क्षुब्ध होना- यह सब आत्मबल की कमी की निशानी है। कुछ ब्रह्मचर्य होने से, कुछ व्यायाम होने से, कुछ उदय अनुकूल चलने से कदाचित् ऐसा भी बल मिल जाये कि लाखों सुभटों को भी जीतने में पुरुष समर्थ हो जाये तो ऐसे बल से भी इस जीव का क्या पूरा पड़ सकता है? शान्ति मिल सके, अनाकुलता रहे, इसमें जीव का लाभ है। इस देहबल के अभिमान से इस आत्मा को लाभ तो क्या, हानि ही होती है। देहबल मिला है तो यह घमण्ड के लिये नहीं है- ऐसा समझो। ऐसे देहबल को पाकर हम आत्मकल्याण का काम कर लें। उत्कृष्ट ध्यान वज्रवृषभनाराचसंहनन में होता है, क्योंकि वहाँ देह में निरुपम बल है। उत्तम ध्यान के प्रताप से वज्रवृषभनाराचसंहनन वाला मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है, यदि संक्लेश करे तो वज्रवृषभनाराचसंहनन के बल वाला पुरुष सप्तम नरक भी जा सकता है। यह तो बल के उपयोग की बात है। हमने देहबल पाया है तो इस बल का हम सदुपयोग आत्मकल्याण के लिये करें।

लोकवैभव की अप्रकृति- कितने ही पुरुष धनसम्पन्न होने पर घमण्ड करने लगते हैं। पूर्वभव में दान किया, साधु-सेवायें की, प्रभु-भक्ति की, उससे जो पुण्य उपार्जित हुआ, उसके फल में आज धन-वैभव मिल गया है, सम्पदा बढ़ती चली जा रही है। उस सम्पदा की वृद्धि के समय अज्ञानीजन घमण्ड करने लगते हैं। यह सम्पदा की वृद्धि घमण्ड की बात नहीं है, अज्ञान है, तब तो यह खेद की बात है। जितनी सम्पदा बढ़ेगी, उतना ही यह फँसता जायेगा, उतनी ही जगह चित्त डोलता रहेगा। आज यहाँ की व्यवस्था कुछ संभल

पायी तो तुरन्त ही दूसरी जगहों की व्यवस्थावों की चिन्ता बनेगी। जितना वैभव है, जितने अर्जन के साधन हैं, उतने साधनों में इसे चिंता करनी पड़ेगी, इसका भटकना बना रहेगा। यह सम्पदा क्या कुछ घमण्ड के लायक वस्तु है? बल्कि इस पुण्य-वैभव से विशेष हानि की सम्भावना है। पुण्य-वैभव मिला, अज्ञान और अहंकार बढ़ा, इससे अन्याय की प्रवृत्तियाँ होने लगी। जब अन्याय की प्रवृत्तियाँ होने लगी तो तीव्र पाप का बंध होने लगा। अब उस पाप के फल में इसे नरक जाना होगा, दुर्गतियों में जन्म लेना होगा। तब इस पुण्य-वैभव ने कुछ लाभ दिया या नुक्सान दिया?

अपूर्व अवसर- भैया ! कितना श्रेष्ठ मनुष्यजन्म पाया है, जिसने रागद्वेषों को जीतकर परमात्मपद प्राप्त किया है, उस प्रभु की वाणी की परम्परा से चला आया हुआ यह विशुद्ध धर्म पाया है। ऐसे उत्कृष्ट धर्म और वातावरण को पाकर अब क्या करना चाहिये? क्या इस इन्द्रजालमय भयंकर परिणाम वाले इस सम्पदा-वैभव में रम जाना चाहिये? ये समागम रमने के योग्य नहीं हैं। इस लक्ष्मी का क्या पता है? आज है, कल नहीं है? जो पुरुष इसमें लग रहे हैं, वे घोर क्लेश पाते हैं। यह घमण्ड के लायक पदार्थ नहीं है। जो पुरुष अहंकार से रहित रहते हैं, वे ही परमशरणभूत अंतस्तत्त्व का दर्शन कर पाते हैं।

परमतत्त्वज्ञों के ऋद्धियों के गर्व का अभाव- कितने ही लोगों के कुछ ऋद्धियाँ पैदा हो जाय तो उन ऋद्धियों को पाकर घमण्ड करने लगते हैं तो उनका पतन हो जाता है। तपस्या के बल से ज्ञान की वृद्धि होती है, क्योंकि तपस्या में विषयकषायों के परिणाम नहीं रहते हैं। उस समय ऐसी उज्ज्वलता बढ़ती है कि अनेक ऋद्धियाँ पैदा हो जायें, ज्ञान बढ़ने लगे, यह ज्ञान बढ़कर जब 11 अंग 9 पूर्व तक पहुंच जाता है, तब तक तो परीक्षा का समय नहीं आता और जब 10वां पूर्व सिद्ध होने लगता है विद्यानुवाद, तब अनेक विद्यायें, अनेक देवियाँ मानों साधक की परीक्षा के लिये आती हैं सुन्दर रूप बनाकर और वे इसके मन से अनुरागवृत्तियाँ करके इस मुनि को डिगाना चाहती हैं। उस समय जो मुनि डिग जाता है, वह पतित हो जाता है, उसका जीवन भ्रष्ट हो जाता है। जो वहाँ नहीं डिगते हैं ऐसी स्थिति में भी अपने परमात्मतत्त्व की भावना में झुके रहते हैं, वे पुरुष आगे प्रगति कर जाते हैं। हो गयीं उस समय में कुछ ऋद्धि तो उन ऋद्धियों के होने से इस आत्मा का पूरा न पड़ सकेगा। गर्वरहित जो परिणाम है, वह भावशुद्धि है। भावशुद्धि में ही सच्ची उत्कृष्ट आलोचना होती है। अभेदालोचना के प्रसाद से यह जीव संसार-संकटों से छूटकर निर्वाणपद को प्राप्त कर सकता है।

ऋद्धियों में बुद्धि ऋद्धि- ऋद्धियां मूल में 7 प्रकार की होती हैं- बुद्धि ऋद्धि, तप ऋद्धि, विक्रिया ऋद्धि, औषध ऋद्धि, रस ऋद्धि, बल ऋद्धि, अक्षीण ऋद्धि। बुद्धि ऋद्धि में सर्वोत्कृष्ट ऋद्धि केवलज्ञान ऋद्धि है, फिर मन:पर्ययज्ञान, अवधिज्ञान फिर अनेक प्रकार के श्रुतज्ञान की ऋद्धियां है। जितना श्रुत उत्पन्न किया गया है, उतना श्रुत भी बराबर बना रहे तो यह भी एक ऋद्धि है। जैसे यहां देखा जाता है कि लोग जितना ज्ञान उत्पन्न कर लेते हैं यदि उसका निरन्तर अभ्यास न बनाये रहें तो उस ज्ञान में कमी आ जाती है। तो जितना ज्ञान पाया है, वह ज्ञान भी बराबर बना रहे, यह भी एक ऋद्धि है। जैसे कोठे में जितने धान भरोगे, उतने ही धान रहेंगे। इसी प्रकार इस ज्ञान-कोठे में जितना ज्ञानविकास हो गया है, वह बना रहे, यह भी ऋद्धि है और जैसे एक धान का बीज बोया तो उससे कितने ही गुने धान पैदा हो जाते हैं, इसी प्रकार ज्ञान की मूल युक्ति पायी तो उसके फल से कितने ही गुना ज्ञान प्रकट हो जाये, यह भी श्रुतज्ञानविषयक ऋद्धि है। कितना ही कोलाहल मच रहा हो बाजा आदि की भीड़ में, उसमें भी भिन्न–भिन्न वचनों को जान सके, यह भी एक ऋद्धि है, नहीं तो कोलाहल में कुछ ज्ञान नहीं होता है। लेकिन कितना ही कोलाहल हो, उसमें भी भिन्न-भिन्न वचनों की पहिचान होती है- ऐसी ऋद्धि भी है। कोई एक पद किसी का बोले तो

उसको ही सुनकर उसका महान् अर्थ जान जाये- यह भी एक ज्ञान की ऋद्धि है। कोसों दूर की चीज देख ली, सुन लिया, स्वाद लिया आदि अनेक ऋद्धियां होती हैं। ऐसे ही ऋद्धि उत्पन्न होने पर जो उत्कृष्ट ऋद्धि नहीं है, उस ऋद्धि पर कभी अभिमान सम्भव हो सकता है। ऐसे अभिमान से रहित जो निर्मल परिणाम है, उसका नाम भावशुद्धि है।

ज्ञानी का ऋद्धियों पर अभिमान अभाव- दोषों को दूर कर सकने वाला आयोजक ऋद्धि-सिद्धि के अभिमान से रहित है। वह तो यों समझता है कि यह आत्मा केवलज्ञान जैसी अनन्त ऋद्धियों से सम्पन्न रहे- ऐसे स्वभाव वाला है। साधारण ऋद्धियां उत्पन्न हों तो उसमें कौनसा वैभव मिल गया? यह आत्मा लोक का जाननहार अपने अनन्त आनन्द में मग्न रहे- ऐसा अतिशयवान् है। ये सांसारिक कुछ ऋद्धियां व सम्पदा मिल गई तो उसमें कौनसी अभिमान के लायक वस्तु है? जो उत्कृष्ट चीज है, उसकी प्राप्ति होने पर अभिमान रहता ही नहीं है। जहां अभिमान रहता है, वहां जानना चाहिये कि कोई उत्कृष्ट चीज मिली ही नहीं है।

तप और विक्रिया ऋद्धि- तपस्या की अनेक ऋद्धियां होती है। विक्रियावों की अनेक ऋद्धियां होती हैं। आकाश में गमन करे, जल पर गमन करे और पैर न भीगें- ऐसी अनेक ऋद्धियां उत्पन्न होना तपस्या के प्रभाव से हो जाता है। अपने शरीर को छोटा बना लेना, हल्का या वजनदार बना लेना, कितनी ही विक्रियाएँ हो सकें- ऐसी ऋद्धियां उत्पन्न हो जाती हैं, पर ज्ञानी संत पुरुष को इन ऋद्धियों तक का भी पता नहीं रहता है। जैसे विष्णुकुमार मुनि को विक्रिया ऋद्धि हो गयी, पर उन्होंने स्वयं उसका उपयोग नहीं किया कि हमें कोई ऋद्धि उत्पन्न हुई है।

औषध ऋद्धि- ऐसी भी अनेक ऋद्धियां होती हैं कि साधु-संत किसी रोगी-दु:खी को अच्छी निगाह से देख लें तो उनके देखने मात्र से ही उसका रोग दूर हो जाता है। हवा उनके शरीर को छूती हुई आकर लग जाये तो उस हवा से भी रोग दूर हो जाते हैं। उनका मल, पसीना आदि कुछ चीजों का भी किसी समय रोगी से सम्बन्ध हो जाये, मल, मूत्र, थूक, खकार, लार, इनका सम्बन्ध हो जाये तो उससे भी रोगियों के रोग दूर हो जाते हैं- ऐसी सातिशय साधु-संतों के प्रकट हो जाती है। पर ज्ञानी पुरुष को ऋद्धि पर भी अभिमान नहीं रहता है। अभिमान करने वाले तुच्छ जन ही हुआ करते हैं। जो महंत हैं, सज्जन हैं, उत्कृष्ट विचार वाले हैं, वे कितनी ही ऋद्धियां, कितनी ही सम्पदा प्राप्त कर लें, फिर भी उनके अभिमान नहीं होता है।

रस व अक्षीण ऋद्धि- ज्ञान, वैराग्य तपश्चरण से ऐसी रस-ऋद्धियां प्रकट हो जाती है कि नीरस भी भोजन चौके में बना हो और साधु-महाराज उस चौके में पहुंच जायें तो वह भोजन सामग्री स्वादिष्ट रसरूप परिणम जाती है। कोई भी उस भोजन को खाये तो वह भोजन सरस लगता है- ऐसी भी रस-ऋद्धियां प्रकट हो जाती हैं। अतुल बल शरीर में आ जाये, इसकी भी ऋद्धियां होती हैं। जहां वे ऋद्धिवान् साधु विराजें हों, वहां कितना ही समूह भोजन कर जाये तो भी उस चौके में कमी नहीं पड़ती है- ऐसी भी ऋद्धियां होती हैं, परन्तु मोक्षमार्ग में प्रगति करने वाले साधु पुरुष के किन्हीं भी ऋद्धियों में अभिमान नहीं होता है। यों सर्वप्रकार के घमण्डों से रहित जो आलोचन परिणाम है, वह ही मोक्षमार्ग का सच्चा पथ है।

देहसौन्दर्य पर अभिमान का अभाव- किसी को शरीर भी बड़ा सुन्दर मिले, शरीर की सुन्दरता दो बातों से होती है- एक तो अंगोपांग, नाक, मुँह, आँख, कान- ये सब सुडौल हों, जिसे कहते हैं आकृति ठीक है। दूसरे कान्तिमानरूप होना- ऐसा विशिष्ट रूप प्राप्त करके भी जिनके अभिमान जागृत नहीं हो सकता है, वे ही पुरुष सच्चे, धर्म के साधक हो सकते हैं। शरीर कितना ही सुन्दर हो, नाक, मुंह, आँख, कान- सभी

सुन्दर हो गये, ठीक सुडौल हो गये तो उसमें कौनसी निधि मिल गयी? आखिर मांस, खून, मज्जा इत्यादि का ही तो यह पिंड है, दुर्गन्धित चीजों को ही तो यह शरीर बहायेगा। यह शरीर की सुन्दरता अभिमान करने के योग्य नहीं है। यों सर्वप्रकार के अभिमान से रहित जो आत्मपरिणाम है, वह परिणाम ही आलुंछन कहलाता है।

माया के अभाव में भावशुद्धि- छल, कपट, माया धर्म के बाधक परिणाम हैं। मायाचारपूर्वक यदि कुछ सम्पदा भी इकट्ठी कर ली या कुछ साधन समागम भी जुटा लिये तो उससे चैन नहीं मिलती, क्योंकि मायावी पुरुष अपने आपकी माया को जान रहा है और उस माया को अन्तर में छुपाने का प्रयत्न करने का उत्सुक रहा करता है, उसे चैन कहां मिल सकेगा? इस असार संसार में जहां किसी का कोई ठौर निश्चित नहीं है, 343 घन राजू प्रमाण लोक का असंख्यातवां हिस्सा है यह, जितनी जगह में हम आप रहते हैं अथवा परिचय पाते हैं, आज यहां पैदा हुए हैं, कल मरण करके कहीं के कहीं चले गये तो क्या रहा फिर यहां का? जो समागम मिला है, क्या सारभूत है? गृहस्थावस्था में यह समागम धर्म के उपयोग के लिये होना चाहिये, मान कषाय को बढ़ाने के लिये नहीं अथवा अपने दिल को रमाने के लिये नहीं।

ज्ञानी को कष्टों में आस्था और अन्याय में अनास्था- भैया ! जो कष्टों का आदर नहीं कर सकता, वह कष्टों में कभी धीर और साहसी नहीं हो सकता। वह धर्म का पात्र नहीं है अथवा यों कहो कि शान्ति का वह पात्र ही नहीं है। उसे तो किसी न किसी रूप से अशान्ति ही मिलती रहेगी। सज्जन पुरुष, ज्ञानी पुरुष धन-सम्पत्ति को भी आदर नहीं देते, उसे विपदा समझते हैं और वे सम्पत्ति से नहीं खेलते, विपदावों से खेला करते हैं। जहां तक बिगाड़ की बात है, वह सम्पत्ति से अधिक हो सकती है। भावों को कलुषित बनाना, मलिन बनना यही सबसे बड़ी विपदा है। भाव शुद्ध रहें और चाहे कैसी भी परिस्थिति आये वह पुरुष अंत: प्रसन्न रहेगा। जो अन्याय करता है, वह अत्याचार करता है वह अपनी खुद की कलुषित प्रवृत्ति को जान रहा है ना, और जब यह अपनी बात को जान रहा है तो यह प्रभु न्याय न करेगा क्या? उसका न्याय यह है कि यह दु:खी रहा करे? जो दु:ख के योग्य बात को करता है उसे दु:खी रहना ही चाहिए।

माया के अभाव में भावशुद्धि- माया-परिणाम के रहते हुए भावों में शद्धि कभी आ नहीं सकती है। मनुष्य को बालकवत् सरल होना चाहिये, जैसे बालक निष्कपट है वैसा होना चाहिए। कोई मायाचार करके चार पैसा ज्यादा कमा ले तो उससे क्या लाभ है? अपना व्यवहार शान्ति उत्पन्न करने वाला होना चाहिए। सरल चित्त वाले पुरुष को कभी विपदा नहीं आ सकती है। जो मायारहित परिणाम है, वह है भावशुद्धि। इस भावशुद्धि में परमआलोचना प्रकट होती है।

लोभ की पाप जनकता- लोभ कषाय के सम्बन्ध में एक लोकोक्ति है- लोभ पाप का बाप बखाना। लोभ पाप का बाप क्यों है? उसमें परपदार्थ को अपनाने का भाव रहता है, जो होना त्रिकाल असम्भव है। यह आत्मा कहाँ-कहाँ नहीं पैदा हुआ, किस-किस शरीर को इसने नहीं ग्रहण किया, किस-किस समागम को इसने नहीं पाया? मगर आज कोई भी समागम, कोई भी वस्तु उसके पास नहीं है। कोई भी परवस्तु अपनी बने, यह त्रिकाल असम्भव है। तो यह लोभ पाप का बाप है। जितने भी अन्य पाप होते हैं उन सबका जनक यह लोभ है। लोभ कषाय से रंगे हुए हृदय में शुद्ध स्वच्छ धर्म का प्रवेश नहीं होता है। शान्ति का करने वाला तो एक धर्म का आलम्बन ही है। धर्म के आलम्बन के अतिरिक्त अन्य कुछ भी इस जीव को शरण नहीं है।

लोभ की परिभाषा- योग्य स्थानों में धन को खर्च न करना, यह है लोभ की परिभाषा। कोई धर्म का स्थान है, वहाँ धन खर्च करने का परिणाम न हो सकना, इसका नाम लोभ है। कोई पुरुष अपने मौज के लिए हजार रुपये माहवार खर्च करता है, कितनी मोटरें रखे हैं, कितने ही नौकर पड़े हैं, अनाप-सनाप खर्च हो रहा है, दोस्त लोग खूब ठग रहे हैं, किन्तु धर्मस्थानों में धन खर्च करने का परिणाम नहीं है तो यह लोभ नहीं तो और क्या है? योग्य कार्यों में धन खर्च न करना, यह तारे लोभ ही है। विषयों में जो अनाप-सनाप खर्च करते हैं वे लोभी हैं। जिसके पास शरीर बल है, जिसके पास बुद्धिबल है, जिसके पास जो भी शक्ति है उसका उपयोग योग्य कार्यों में न लगाये तो यह लोभ कहलाता है। लोभ से रंगे हुए हृदय में धर्म का प्रवेश नहीं होता है।

लोभ व आकुलता के अभाव का उपाय- निश्चय-दृष्टि से देखा जाय तो समस्त परिग्रह का त्याग जिसके स्वरसत: बना हुआ है, ऐसे आत्मतत्त्व का आलम्बन ही लोभ का अभाव है अर्थात् जो समस्त परिग्रहों से न्यारे अपने शुद्ध ज्ञानाननन्दस्वरूप परमात्मतत्त्व को निरखना है, स्वीकार करना है वह ही धर्म है। वह ही करना युक्त है। अपने शुद्ध स्वभाव का आलम्बन छोड़कर अन्यत्र बाहर परमाणुमात्र द्रव्य को स्वीकार करना, यही लोभ है। योग्य कार्यों में धन खर्च न कर सकता, यह तो व्यवहार-दृष्टि से लोभ है और निश्चयदृष्टि से किसी परमाणुमात्र को भी, एक दमड़ी छदाम तक को भी अपना मानना लोभ है। अध्यात्म-क्षेत्र में निराकुलता वह कहलाती है जहाँ केवल शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव को ही आत्मा स्वीकार करे यह ही उसका सर्वस्व वैभव है, इस ही में तन्मय होना, ऐसे आत्मस्वभाव को ही स्वीकार करना इसका नाम है निराकुलता। काम, क्रोध, माया, लोभ इन सभी भावों से जो छुटकारा पा लेवे उस शुद्ध भाव का नाम है भावशुद्धि। भगवान् अरहंतदेव ने इस भावशुद्धि को परमआलोचना कहा है।

स्वावलम्बन का मोड़- भैया ! स्वरूपपरिचयी पुरुष इन कर्मों से हटकर संसार-सागर से पास हो जायेगा। इस संसार से पार, जीवनमुक्त, अरहंतप्रभु की दिव्यध्वनि में यह उपदेश आया है कि सर्वविकारों से रहित अविकारस्वभावी ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपको निहारो, इस उपाय से परमकल्याण होगा। कोई अपने को आकिंचन्य निरख सके, मेरा कहीं कुछ नहीं है, मेरा तो मात्र मेरा एक चैतन्यस्वभाव है, मैं स्वरूपास्तित्त्वमात्र हूं- इतनी श्रद्धा किसी में आ सके तो उसका मनुष्य-जीवन पाना सफल है। लाखों का वैभव भी जोड़ लिया, किन्तु अपने आपके सहजस्वरूप की परख न आ सकी तो उसका जीवन बेकार है। भव्य पुरुषों को यह उपदेश हितकारी है।

साधु संतों की करुणा का लाभ लेने का अनुरोध- इन साधु संतों की कितनी परमकरुणा है कि जो उन्होंने अपनी तपस्या से जो वैभव पाया है, उन वैभव को अक्षरों में लिख गये हैं और हम आप सब ऐसे कपूत रहे कि बना बनाया भोजन भी न खा सके। जो तत्त्व बड़े तप और साधना के बाद अपने आपकी मेहनत से प्राप्त हो सकता है, वह तत्त्व, वह अमृत आज यह लिपिबद्ध है। इसे भी हम न पढ़े, न सुनें, न मनन करें तो और क्या दशा होगी? विषयकषायों में ही रत होंगे। इन ढेले, पत्थरों को ही सब कुछ मानते रहेंगे तो परिणाम क्या होगा? दुर्गति होगी, संसारभ्रमण होगा। तब फिर यह मनुष्य-जीवन पाया न पाया एक समान है।

भावशुद्धि की आलोचना- आलोचना के लक्षणों में यह अंतिम आलोचना है भावशुद्धि। जहां घमण्ड नहीं, कामविकार नहीं, छल-कपट नहीं, लोभ नहीं, और भी समस्त विभाव नहीं, केवल ज्ञाताद्रष्टारूप परिणति चल रही है- ऐसे परिणाम का नाम है भावशुद्धि। निश्चय परमालोचन का अर्थ देखना है। दोषों को देखें तो दोषों को दूर करने के ध्येय से देखें। आलोचन की पहिली स्थिति होती है दोषों के आलोचना की। दोषों की

आलोचना से यह स्वभाव का आलोचन बन जाता है, गुणों को निरखने में परिवर्तित हो जाता है। किसी के गुणों का वर्णन करने का अर्थ ही दूसरों के दोषों का प्रसिद्ध हो जाना है। कोई दो साधु पुरुष बैठे हों, उनमें से एक के गुण बता दिये जायें, दूसरे की बात ही न कही जाये तो उसका स्वयं ही यह अर्थ हो जाता है कि यह द्वितीय साधु दोषों से भरा हुआ है, सन्मार्ग पर नहीं है। दूसरे के दोषों का वर्णन करने में उपयोग क्यों बिगाड़ा जाये? जैसे लोकव्यवहार में दूसरे के दोष बताने की विधि यह है कि अन्य गुणी के गुणों का वर्णन कर दे। इसी प्रकार अध्यात्मक्षेत्र में आत्मदोषों की आलोचना करने की उत्कृष्ट विधि यह है कि आत्मा के गुणों को निरखते रहें। आत्मदोषों की आलोचना वहां स्वयं ही हो जाती है। यों यह परम आलोचक ज्ञानी संत आत्मतत्त्व की रुचिवश आत्मस्वभाव के गुणों को देख रहा है और उस चित्प्रकाश में मग्न होकर दोषों को दूर कर रहा है। दोष दूर हुए कि गुणों का विकास स्वयमेव हो जाता है।

शुद्धमार्गानुशरण से सिद्धि- जो भव्य जीव जिनेन्द्रदेव के मार्ग में कहे हुए जो आलोचना के उपाय हैं, उनको करके अपने स्वरूप में रमता है। जो सर्वथा परभावों का त्याग करता है, उसे मुक्तिरूपी लक्ष्मी प्राप्त होती है। जीव को होना है मुक्त अर्थात् औपाधिक जितने भी भाव हैं, उन सर्वभावों से भिन्न अपने आपको निरखना है। जो सर्व पर विमुक्त अपने आत्मस्वरूप को निरखेगा, वह अवश्य ही मुक्त होगा। जो अपने को सर्वपदार्थों में लिप्त देख रहा है और ऐसी ही रुचि कर रहा है, वह पदार्थ से कैसे छूटेगा। जितने भी क्लेश हैं, वे सब बाह्य अर्थों की ममता के हैं। ममत्व न हो तो इस जीव को कोई भी क्लेश नहीं है। रही शारीरिक क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण की बाधा की बात। यदि ममत्व न रहेगा तो शरीर भी न रहेगा। सदा के लिये शरीर से मुक्त हो जायेंगे, फिर कष्ट की कोई बात न रहेगी। जो कल्याणार्थी पुरुष हैं, उन्हें चाहिये कि शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप निज आत्मतत्त्व की प्रतीति बनाये रहें। जो सदामुक्त आत्मतत्त्व की भावना करते हैं, वे कर्मों से अवश्य ही मुक्त हो जाते हैं।

शुद्धनयात्मक आलोचना- आलोचना दोषों को दूर करती है। कोई दोष बन जाये, उस दोष को अपने मुख से प्रकट करने से वह दोष हल्का हो जाता है। दोष बनते रहें तो दोषों से मुक्ति नहीं होती है। इसी आलोचना का जो उत्कृष्ट रूप है ज्ञानानन्दस्वभाव निजतत्त्व का दर्शन, विभावरहित आत्मतत्त्व का परिणमन- यही ही उत्कृष्ट आलोचना है। संयमी जीवों को यह आलोचना अवश्य मोक्ष का फल देती है। इस आलोचना का नाम है शुद्धनयात्मक आलोचना अर्थात् शुद्ध दृष्टि से जो अपने आपके स्वरूप का निरीक्षण होता है, उसे कहते हैं शुद्धनयात्मक आलोचना। यह शुद्धनयात्मक आलोचना कामधेनु की तरह सर्वसिद्धियों को उत्पन्न करने वाली होती है। जहां शुद्ध आत्मतत्त्व के अनुरूप आत्मा का आचरण होता है, उसे शुद्धनयात्मक आलोचना कहते हैं। आत्मा है केवल जाननहार देखनहार, जिसमें रागद्वेष का विकार नहीं पड़ा हुआ है। रागद्वेष के विकार से रहित शुद्ध ज्ञानप्रकाश ही बर्तता रहे- ऐसा इस आत्मा का स्वभाव है। इस स्वभावरूप आत्मा की प्रतीति करना, ऐसा ही उपयोग बनाना- यही है शुद्ध नयात्मक आचरण और शुद्ध आलोचन।

आत्मा का स्वत:सिद्ध स्वरूप- आत्मा का स्वरूप स्वत:सिद्ध है। इस जीव को किसी ने बनाया नहीं है। जीव को ही क्या, जगत् में कितने ही पदार्थ हैं, किसी भी पदार्थ को किसी ने बनाया नहीं है। पदार्थ का अनादि सिद्धस्वरूप जब ध्यान में नहीं आता है और हम लोकव्यवहार में अनेक पदार्थों का निर्माण देख रहे हैं तो लौकिक जनों में यह कल्पना होना प्राकृतिक है कि सारी दुनिया का भी कोई बनाने वाला होगा। कपड़ा, घड़ा आदि अनेक वस्तुएँ कुम्हार कोरी आदि के बनाये बिना नहीं बन रहे हैं तो वह सारी दुनिया भी कैसे अपने आप हो जायेगी? इसको भी बनाने वाला कोई होगा- ऐसी धारणा वस्तुस्वरूप से अनभिज्ञ

पुरुष के हो जाती है, किन्तु एक यही उहापोह कर लो कि जैसे कुम्हार ने घड़ा बनाया तो कुछ न था, बना दिया ऐसा कर सकेगा क्या कुम्हार? मिट्टी थी, उपादान था, पहिले से कोई वस्तु थी, तब उस वस्तु में कुछ परिवर्तन हुआ है। वस्तुत: तो उस काल में भी जब घड़ा बन रहा है, कुम्हार केवल अपनी चेष्टा कर रहा है और उसके उस प्रकार के हाथ आदि चलने का निमित्त पाकर उस मिट्टी के घड़ेरूप परिणमन स्वयमेव हो रहा है। ऐसे ही कदाचित् मान लो कोई एक इस समस्त जगत् का कुछ परिणमन करे तो कुछ चीज हो, तभी ना परिणमन करे। तो चीज की सिद्धि तो पहिले से ही हो गयी। उपादान अनादि सिद्ध हुआ। न हो और असत् से सत् बना सके कोई- ऐसा न्याय में आ ही नहीं सकता।

सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर की विविक्तता व आनन्दभवता- अब देखिये निर्माण के निमित्त की बात। भला इतने विस्तृत लोक का, जिसका रवा-रवा, अणु-अणु समस्त पदार्थ जिसमें व्याप्त है, कोई एक ईश्वर या कोई प्रभु किस वस्तु का निर्माण करता होगा। इस ईश्वर का स्वरूप सर्वज्ञ और वीतराग है, परम आनन्दमय है। प्रभु को सच्चिदानन्द कहते हैं, जिसका अर्थ है अनन्तशक्ति, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्त आनन्दस्वरूप। किसी पदार्थ का निर्माण किया करे- ऐसा परमेश्वर का स्वरूप नहीं है। ये समस्त पदार्थ अनादिसिद्ध हैं और इनका विभावरूप परिणमन जब जिस प्रकार का निमित्त पाकर ज्यों होता है, उस प्रकार चलता है। यह आत्मतत्त्व शुद्ध है, ज्ञाताद्रष्टा है। इसका सचिादानन्दस्वरूप जानकर जो इस पर ही अपना उपयोग लगाता है, वह शुद्ध शील का आचरण करके सिद्धि का स्वामी होता है। सर्वविशुद्ध स्वत:सिद्ध आत्मस्वरूप उस शुद्ध उपयोग में है।

मोह की बाधा- भैया ! मोह का बड़ा विकट जाल है। यहाँ एक अणु का भी तो सम्बन्ध नहीं है, किन्तु विकल्प में कितने विभाव बसा रखे हैं। इन कल्पनावों के कारण यह लोक संसार-भ्रमण कर रहा है। जिसने जिसे राग का विषय बनाया वह उसके लिए ही अपना सर्वस्व न्यौछावर करता है। पर, जीव का एक भी आत्मा से सम्बन्ध नहीं है। ऐसे सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व में मग्न मुनिजनों के हृदय-कमल में यह स्वरूप आनन्दसहित विराजमान् है। इसमें कोई बाधा नहीं है। बाह्य पदार्थ किसी प्रकार से परिणमे, कोई किसी दूसरे को बाधा नहीं देता है। सड़कों पर कोलाहल हो रहा है, क्या उन कोलाहल करने वालों के वह कल्पना तक भी है कि जो मंदिर में बैठते हैं, सुनते हैं, पढ़ते हैं उनको मैं बाधा दूँ, और उन्हें मंदिर से भगायें? वे अपनी कषाय के अनुकूल अपने कोलाहल में मस्त हैं। अब दूसरे जीव कल्पना से अपनी अभीष्ट वृत्ति में बाधा जानकर यह मान लें कि ये लोग बड़ा डिस्टरबेन्स करते हैं तो यह हम आपकी कल्पना है। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ को बाधा नहीं देता है। यह बाधा रहित है आत्मतत्त्व। बाधा तो इसमें इसके मोह की है। अंतरंग में मोह की कल्पना जगाई कि बाधा होने लगी।

आत्मा में अयोग्य तत्त्व का अभाव- यह आत्मस्वरूप काम-विकार से रहित है। इसमें क्रोध, मान, माया, लोभ का रंच प्रवेश नहीं है। इस स्वरूप को न जानकर, बाह्य पदार्थों को अपनाकर इन्द्रिय के विषयों में लोभ करके यह जीव परेशान होता है। जिसने शुद्ध ज्ञानरूपी दीपक के द्वारा अपने मन के घोर अंधकार को दूर कर दिया है वह तत्त्व साधुवों द्वारा भी वंदनीय है। जन्म-समुद्र को लांघ जाने की नौका स्वरूप उस शुद्ध स्वरूप का मैं सेवन करता हूं। इस लोक में हम-आपका कोई शरण नहीं है। केवल एक तत्त्वज्ञान ही शरण है। जो पुरुष इस तत्त्वज्ञान पर न्यौछावर हो जाते हैं उनके सकल संसार संकट कट जाते हैं। अन्य पदार्थों पर अनुराग करने का फल ही कल्पनाजन्य-जीवन का कुछ सुख मान लिया जाय, परन्तु संकट नहीं कट सकते हैं। कोई पुरुष बड़ी ऊँची तपस्या करके ज्ञानी बनकर भी कदाचित् किसी को पाप कार्य करने का उपदेश दे तो क्या यह शोभा देता है? जिस बात के बोलने में भी शोभा नहीं हो, जिस पाप का

उपदेश करने में भी शोभा नहीं आती, क्या उस पाप के करने में शोभा है? जिसकी बात कहना भी गुनाह और अपराध माना जाता है वह कार्य करना कैसे युक्त हो सकता है? वह सहज तत्त्व जयवंत हो, जो सदा निर्व्याकुल है, सुलभ है, समता का पुन्ज है। अपने क्षेत्र में बसा हुआ अपना परमात्मा निर्विकार, शुद्ध ज्ञानज्यातिर्मात्र है, जिसकी सहजदृष्टि होने से शुद्धपरिणमन, अनन्त आनन्द प्रकट होता है।

यथार्थ श्रद्धा से मोह के बोझ का दूरीकरण- भैया ! बहुत बड़ा भारी बोझ है इस अज्ञानी जीव पर कि इसे मोह की बात ही सुहाती है, रहेगा यह समागम कुछ नहीं, पर मोह में ग्रस्त होने से यह अपने प्रभु को भूला है और जो जीव शरण नहीं हैं, साथ नहीं देते हैं ऐसे जीवों में, पदार्थों में यह रम जाता है। समस्त तत्त्व का सिरताज तत्त्व यह चैतन्यस्वभाव है। जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन 7 तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, किन्तु इन 7 तत्त्वों का श्रद्धान इस विधि से हो कि चैतन्यस्वरूप का दर्शन हो सके तो वह श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। पापों का जानना बुरा नहीं है पर पापों को पापरूप से तो बुरा नहीं है, कोई पापों को उपादेयरूप से जाने, यही मेरा कर्तव्य है, यों समझे तो बुरा हो जाता है। आस्रव बंध का ही ज्ञान करना भला है पर यह आस्रव हेय है और निराश्रय आत्मस्वरूप उपादेय है इस विधि से आस्रव बंध का जानना और श्रद्धान करना यह सम्यग्दर्शन का अंग है।

अद्वैत ब्रह्म- यह परमतत्त्व कल्याणमय है, निरावरण है, नित्य है, समस्त मायाजालों से रहित है। जिसकी चर्चा अनेक लोग परमब्रह्म के रूप में करते हैं कि वह एक है, सर्वव्यापक है। वह एक सर्वव्यापक हमें किस पद्धति से नजर आए, वह पद्धति है शुद्ध निश्चय की दृष्टि और इस शुद्ध निश्चयदृष्टि में यह विकल्प भी नहीं रहता है कि यह एक है और सर्वव्यापक है, किन्तु एक अद्वैतमात्र केवल वही-वही अनुभूत होता है। ऐसा यह निज कारणसमयसार मन से और वाणी से अगोचर है। मुनिजन अनुभव द्वारा इस अमृतरस का पान किया करते हैं, और निर्जन वन में भी ये प्रसन्न होकर आराधना किया करते हैं, ऐसा अपने आपमें विराजमान् परमात्मप्रभु वंदनीय है।

चतुर्विध आलोचन से सिद्धि की सिद्धि- यह आलोचना के अधिकार में उपसंहार चल रहा है। जो पुरुष अपने दोषों की आलोचना करते हैं उसे व्यवहार आलोचना कहते हैं और जब समताभाव में स्थित होकर अपने स्वभाव को निरखते हैं तो वह निश्चयालोचना है। शुद्ध प्रभु का निरखना आलोचन है और इस शुद्ध ज्ञानस्वभाव के निरखने से जो दोष स्वत: दूर होते हैं, उनका नाम आलुंछन है। आलुंछन और आलोचना हो तो सर्वविकार दूर हो ही जाते हैं। जहां सर्वविकार दूर हुए वहां परिणामों की निर्मलता प्रकट होती है। इस जीव का सहाय केवल परिणामों की निर्मलता है। जिसने जन्म जरा मृत्यु को जीत लिया है, दारुण रागादि बैरियों को जिसने दूर कर दिया है, जो परमात्मस्वरूप में स्थित हों- ऐसे सत् पुरुष जयवंत हों।

निर्दोषसाधना में उच्चस्थिति का लाभ- हम आप लोग आज बड़ी ऊँची स्थिति में हैं- कीड़ा-मकड़ी नहीं रहे हम आप, सब स्थावरों से निकल आये, असंज्ञी भी नहीं हैं, तिर्यंच पशु भी नहीं हैं, मनुष्य हैं। इस मनुष्य जीवन से जी कर यदि इस संसार की माया में ही अपना उपयोग फँसाया, इस मायामय जगत् के जीवों में ही अपना राग और द्वेष बनाया तो इसका फल संसारभ्रमण ही है। जहां से निकल कर आया है, उस गर्त में ही गिराने का काम है। एक चैतन्यतत्त्व का ज्ञान न उत्पन्न किया और इस तत्त्वज्ञान की रुचि न बनायी तो ये सब काम, ये सब समागम, यह उत्कृष्ट पर्याय की प्राप्ति- ये सब निष्फल हो जायेंगे। हम आलोचना से न डरें, आलोचना का आदर करें। मुझमें कोई दोष हुआ है, यदि उसे 10 आदमी जान जायें तो यह भलाई है। उस दस के जान लेने में मेरे में कोई बिगाड़ नहीं होता है। कदाचित् यह भी सोचें कि ये

दस लोग मुझे बुरा कहेंगे, अरे बुरा कहेंगे तो वे अपना परिणमन करेंगे। वे मेरा बुरा न कर सकेंगे। बल्कि दोषों को उखाड़ फैंक देने से हम बोझ से हल्के हो जाते हैं।

ज्ञानबल के बिना व्यवहारालोचना का भी अभाव- व्यावहारालोचना भी जब बहुत बड़ा ज्ञानबल हो, तब की जा सकती है। छलरहित दोषों का निवेदन करना- यह इस जगत् से विविक्त आत्मस्वभाव की प्रतीति बिना नहीं हो सकता। जो अपने को इस जगत् की निगाह में मरा हुआ समझ ले, उसमें ही ऐसा माहात्म्य प्रकट हो सकता है कि वह अपने दोषों का छलरहित निवेदन कर सके, नहीं तो कई छल हुआ करते हैं दोष निवेदन करने में भी। बड़े दोष को तो बता दिया और छोटे दोष को छिपा लिया अथवा छोटे दोष को तो बता दिया और बड़े दोष को छिपा लिया, जिससे लोग जानें कि इतने सूक्ष्म दोषों की भी जब यह आलोचना करता है तो इसका कितना बड़ा शुद्ध हृदय होगा? जैसे श्रावक जनों में कोई कहे कि साहब आज पानी छान रहे थे तो छन्ने का एक खूँट फिसल जाने से कोई एक पाव पानी बिना छना चला गया, इसका प्रायश्चित्त दीजिये तो सुनने वाला जानता है कि यह बड़े शुद्ध आचार-विचार का है और चाहे किन्हीं गरीबों पर अन्याय करके अपना स्वार्थ साधता हो। तो सूक्ष्म दोष को बताना और बड़े दोष को छिपाना, यह भी दोष है और बड़े दोष को छिपाना तथा छोटे दोष को बताना, वह भी दोष है। उन समस्त दोषों से रहित शुद्ध आलोचना करना, यह व्यवहारालोचना है। इसमें भी महान् ज्ञानबल की आवश्यकता है।

परमालोचना के आलम्बन की दृष्टि- जिस तत्त्वज्ञान से अपने लिये अपने को जाना, उस तत्त्वज्ञान में ही सामर्थ्य है कि वह शुद्ध आलोचना कर सकता है। फिर उसके मुकाबले बहुत ही अधिक पुरुषार्थ चाहिये, जो निश्चयालोचना कर सके। केवल स्वभाव की आराधना करना- यह है शुद्ध निश्चयालोचना। इस परमालोचना के प्रसाद से ही सिद्धपना प्राप्त हो सकता है। इस परमालोचना का हम आप आदर करें और इस प्रकरण से यह शिक्षा लें कि हममें जो दोष आते हैं, उन दोषों को ढके नहीं, बल्कि बड़े जनों से निवेदन कर दें और उन दोषों के बोझ से मुक्त हो जायें। दोषों का बोझ भी बड़ा कठिन बोझ है। इस बोझ से यह शुद्ध प्रभु तिरोहित रहा करता है। दोषों को उखाड़कर दोषों से रहित चिदानन्दस्वभाव को निरखना, इसका ही नाम परमालोचना है। इस परमालोचना के प्रसाद से शाश्वत आनन्द प्राप्त करो।

शुद्ध नय प्रायश्चित्ताधिकार

गाथा 113

वदसमिदिसीलसंजय परिणामो करणणिग्गहो भावो।

सो हवदि पायछित्तं अणवरयं चेव कायव्बो ।।113।।

प्रायश्चित्त अधिकार का संदर्भ- इस जीव के साक्षात् आकुलता के कारण राग, द्वेष, मोह भाव हैं और उन राग, द्वेष, मोह भावों के उत्पन्न होने में निमित्त कारण द्रव्यकर्म है और यह द्रव्यकर्म रागादिक भावों को उत्पन्न करने का निमित्त बन सके, इसके लिये आश्रयभूत नोकर्म है। नोकर्म में प्रधान शरीर है। इस प्रकार हम आप जीवों के लिये दु:ख के कारण शरीर, कर्म और रागादिक भाव- इनका सम्पर्क है, दूसरा और कोई दु:ख का कारण नहीं है। अब दन दु:ख के कारणों के त्याग के लिये शुद्ध निश्चय प्राश्श्चित नाम का अधिकार कहा जा रहा है।

संसरण के अपराध का प्रायश्चित्त- भैया ! हम आप संसारी प्राणियों ने दोष किया है अनादि से। अभी तब मोह, राग विरोध के अपराध करते चले आये हैं और उन अपराधों के कारण आज व्याकुलचित्त हैं। किसी भी पद में, किसी भी स्थिति में चित्त नहीं रमता, हम टिक नहीं पाते, स्थिर नहीं हो पाते, बाह्य की ओर दृष्टि भटक रही है, कहीं चैन नहीं पड़ता। ऐसे अपराधों का जब तक कठिन प्रायश्चित्त न लिया जाये, तब तक ये अपराध दूर नहीं हो सकते हैं। इन अपराधों का अमोघ प्रायश्चित्त व्रत, तप, शील, संयम आदि के परिणाम हैं, जिन्हें अज्ञानी जीव बड़े परिचय और आदर के योग्य, पालन के योग्य निरखते हैं- ऐसे व्रत, तप, संयमशील को ज्ञानी प्रायश्चित्त के रूप में देखता है। मोह, राग, द्वेष के जो अपराध बन रहे हैं, उन अपराधों को दूर करने के लिये यह कड़ा प्रायश्चित्त लिया जा रहा है। इस व्यवहारचारित्र को पालकर अपने आंतरिक शुद्ध स्वभाव की दृष्टि करना और इस चैतन्यस्वभाव में मग्न होना- यह निश्चय प्रायश्चित्त है।

प्रायश्चित्त का अभाव- प्रायश्चित्त का अर्थ है 'प्राय: यानी प्रचुरता से निर्विकार चित्त करना' । कोई विकार उत्पन्न होता है तो विकार को दूर करने के लिये निर्विकार भाव ही समर्थ है। जैसे कोई पुरुष किसी का अपराध करे तो वह हाथ जोड़कर क्षमा चाहता है- ''भाई मुझे माफ करो, मैंने गलती की है'' इस तरह इस जीव ने रागादिक विकार किये हैं, महान् अपराध किया है। सिद्ध प्रभु की तरह अनन्त ज्ञान, अनन्त ऐश्वर्य का धारी है यह आत्मा। इस निजप्रभु पर कितना अन्याय किया है इन विकारों ने? इन रागादिक भावों के माध्यम से हमारे अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द की निधि बराबर हो रही है। किसी के 10-20 हजार रुपये भी कोई बरबाद कर दे तो उसे अपराधी मानते हैं कि इसने बड़ा कसूर किया है, इसने दस बीस हजार रुपयों का नुक्सान पहुंचाया है। अरे, जो रागादिक भाव अपने अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द में दखल दे रहे हैं, बाधा पहुंचा रहे हैं, अपराधी तो वास्तव में ये विभाव हैं। ये विभावों ने इस आत्मप्रभु पर बड़ा अन्याय किया। अब उस सकल विकार अपराध का प्रायश्चित्त निर्विकार परिणति है, उसे करो।

स्वापराध व उसके निवारण का उपाय- हे आत्मन् ! तुम अब किसी भी परजीव को अपना अपराधी मत समझो, किसी को अपना अपराधी समझना ही अपने आप पर अन्याय करना है। कौन किसका अपराधी है? सभी जीव अपनी-अपनी कषाय के अनुसार अपना-अपना स्वार्थ सिद्ध करने में लगे हुए हैं, तुम्हारा कोई बिगाड करने पर नहीं तुला है। यह सबकी आदत है कि अपना ही काम बनाएँ। सब अपना ही काम बना रहे हैं। मित्र हों, रिश्तेदार हों, परिजन हों, कोई भी हो, सरकार हो- सभी अपना काम बनाना चाहते हैं। तू उन्हें बाधक समझता है। अरे, तेरा बाधक तेरा रागपरिणाम है। तुझे सम्पदा में जो राग लगा हुआ है, वह राग ही तेरा दुश्मन है, दूसरा दुश्मन नहीं है। तो जो भी विकारभाव उत्पन्न होते हैं, महान् अपराध होते हैं, उनकी माफी कैसे हो सकेगी? उनकी क्षमा मांगने का कोई तरीका भी है क्या? वह तरीका यही है कि अब मैं विकार न करूँगा, मैं अपने निर्विकार स्वभाव में ही प्रसन्न रहूंगा, इस प्रकार के संकल्प से विकारों को न होने देना, यही विकारों के अपराधों का प्रायश्चित्त है। मुझमें ये रागादिक अपराध न हों, इसका उपाय भी है क्या कुछ? हाँ है उपाय। निश्चय से तो विकाररहित चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व का दर्शन करना, यह उपाय है और व्यवहार से व्रत, समिति, शील और संयम का परिणाम बने जिससे विषय-कषायों के आने का अवसर न हो, ऐसी प्रवृत्ति को व्यवहार-उपाय कहते हैं।

पाप का प्रायश्चित्त- जैसे हम आप लोग प्रतिदिन मंदिर में दर्शन करने आते है, क्यों आते हैं दर्शन करने? हम अपराध कर रहे हैं रातदिन बहुत, उन अपराधों की माफी मांगने के लिए मानो दर्शन करने आते हैं। सभी की ईश प्रार्थनाएँ इस ही मर्म को लिए हुए हैं। मुसलमान लोग तो नमाज पढ़ते हुए में उठते, बैठते, कान पकड़ते, टेढ़े होते, कितनी ही प्रवृत्तियां करते हैं, वह इस बात का प्रतीक है कि नमाज में अपने माने

हुए प्रभु से माफी मांग रहे हैं, मैंने अपराध किया है मुझे माफ करो। भले ही उनकी चर्या-पद्धति किसी प्रकार की हो, उसको नहीं कह रहे हैं किन्तु जो पुरुष अपराध करते हैं उनको सब अपराध की शुद्धि करनी पड़ेगी व्रत, नियम पालन करने पड़ेंगे। आप कुछ अपराध न करें तो दर्शन की कोई जरूरत नहीं है किन्तु कोई पुरुष झूठा ही यह समझ ले कि मैं कुछ अपराध नहीं करता हूं, अपने घर रहता हूं, 200 रू. महीना किराया आता है, उसी में सारा काम चलाते हैं, किसी पर कोई अन्याय नहीं करते हैं तो अब मुझे दर्शन करने की क्या जरूरत है? सो बात नहीं है। वह अपराध निरन्तर कर रहा है, शरीर में ममता हैं, पैसे में ममता है, विषयों के साधन जुटाये जा रहे हैं, विषयों का सेवन कर रहे हैं, यह क्या कम अपराध हैं? इस ही विभाव विपदा से तो इस प्रभु का प्रताप रुद्ध हो गया है। हम अपने आत्मस्वरूप से बहिर्मुख हो रहे हैं यह महान् अपराध है, और इस अपराध को दूर करने के लिए व्रत, तप, संयम सब कुछ पालन करना होगा।

ज्ञानी के निर्विकल्प शुद्ध ध्येय की दृष्टि- ज्ञानी पुरुष व्रत को पालकर भी यह नहीं मानते कि मैं सर्वथा योग्य काम कर रहा हूं और इसके आगे अब मुझे कुछ नहीं करना है। वह तो इस व्रत तप को अपने अपराध का प्रायश्चित्त समझता है। यह मैं प्रायश्चित्त कर रहा हूं उन अपराधों का जो अनादि के विभावों में रमा आया हूं। मुझे करने योग्य काम अभी बहुत पड़ा है और अनन्तकाल करते ही रहना चाहिए ऐसा काम पड़ा है, वह काम है ज्ञाताद्रष्टा रहना, निर्विकार ज्ञायकस्वरूप में मग्न रहना और प्रतिसमय अनन्तआनन्द भोगते रहना। व्रत और तप का मुझे काम नहीं पड़ा है। इन्हें तो करना पड रहा है, क्योंकि मैंने विकार और अपराध बहुत किया हैं।

प्रतपन द्वारा दोष का दूरीकरण- इस अधिकार में शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त का वर्णन है। अपराध कैसे शुद्ध हों उसका उपाय कहा जा रहा है। जो मलिन स्वर्ण है, जिसमें आना दो आना तांबा मल मिला हुआ है, उस विकारी स्वर्ण को निर्दोष करने का क्या उपाय है? अग्नि में कितने ही बार तपाया जाय और उसको क्षार द्रव्य में गलाकर शोधन किया जाय तो वह निर्दोष होता है। ऐसे ही ये आत्मविकार हुए हैं, इसमें कितना ही मल लगा हुआ है क्रोध, मान, माया, लोभ और काम का, और सीधी बात यह है कि अपने स्वरूप के अतिरिक्त किसी भी परद्रव्य में उपयोग फंसाना, उसे हितकारी मानना, उसमें राग करना ये सब अपराध हैं। ऐसे इस विकारी आत्मा को निर्दोष बनाने का क्या उपाय है कि ये व्रत, तप, शील, समिति, संयम, इत्यादि तपश्चरण अग्नि में इस उपयोग को तपायें, इसमें उपयोग दें तो यह अपने स्वरूप को पाकर निर्दोष हो जायेगा। यह है शुद्ध निश्चयनय से प्रायश्चित्त।

अहिंसा महाव्रत का ध्येय व परिणाम- इस प्रकार से इस जीव से हिंसाएँ हुई हैं। भव-भव में कितना पापों का ढेर जमा हो गया है, उन सब पापों को टालने के लिए अहिंसा महाव्रत का महान् संकल्प किया है ज्ञानी संत पुरुष ने। मैं अब 6 काय के जीवों की हिंसा का सर्वथा परित्याग करता हूं। देखिये, जैसे किसी को धन का अधिक लोभ सताये हो, धनिक भी हो और बड़े आरम्भ के कार्यों में धुन लगी हो, कुछ द्रव्य भी मिल रहा हो तो ऐसे पुरुष को भूख की वेदना नहीं सताती है, वह सह लेता है, एक आध दिन खाने को न मिले तो भी प्रसन्न रहता है, क्योंकि उसे चाहिये रुपयो का ढेर। जैसे वह अपनी धुन के माफिक कार्य में व्यस्त होने से भूख-प्यास को भी सह लेता है, दूसरे की गाली-गलौच को भी सह लेता है। इसी तरह आत्मकल्याण की धुन वाले ज्ञानी संत हैं, उन्हें चाहिये शुद्ध ज्ञान का अनुभव। वे इस ज्ञानानन्दस्वरूप की मग्नता की धुन में रहते हुए अंत:तपश्चरण किया करते हैं। उन्हें दो-चार दिन, पन्द्रह दिन, महीनाभर अंतराय आने के कारण भोजन न मिल सके तो भी वे परवाह नहीं करते हैं, क्योंकि वे जो चाहते हैं,

उसकी सिद्धि बराबर चल रही है। तब वे हिंसा का सर्वथा त्याग करने का संकल्प कर पाये हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति-इनका भी रंच घात न करेंगे। त्रस जीवों की हिंसा का तो श्रावकावस्था में भी त्याग हो जाता है। ऐसे हिंसा महाव्रत का संकल्प हिंसारूप अपराध को धोने के लिये किया जा रहा है और इसके फल में अहिंसामय स्वरूप प्रकट होगा, जिसमें अनन्त आनन्द का अनुभव हुआ करेगा।

सत्यमहाव्रत का ध्येय व परिणाम- इस ज्ञानी पुरुष ने सत्यमहाव्रत का नियम लिया है। उसकी समझ यह है कि मुझे भूतकाल में जब-जब संज्ञी पर्याय प्राप्त हुई, तब-तब वचनों का दुरुपयोग किया, असत्य बोला। असत्य बोलना संज्ञी होने से पहिले नहीं बोला जा सकता है। यद्यपि वचन दोइन्द्रिय प्रकट होना शुरू हो जाता है, क्योंकि रसना इन्द्रिय मिली ना, किंतु वे सब अनुभय वचन हैं। असत्य वचन संज्ञीपंचेन्द्रिय ही बोल सकते हैं। मैंने जब-जब संज्ञीपंचेन्द्रिय पर्याय पाया, तब-तब वचनों का दुरुपयोग किया, जिससे संसार में अब तब रुलना पड़ रहा है। अब मैं असत्य वचनों का सर्वथा परित्याग करता हूं। कोई गृहस्थ बड़ी सच्चाई से दुकान चलाये, एक भी बात झूठ न बोले, साफ लेन-देन रखे, नियत मुनाफा ले, प्रत्येक बात स्पष्ट करे और उन सब व्यवहारों में सच्चाई के वचन बोले जायें, वे भी अध्यात्म संत पुरुष की दृष्टि में झूठे बोल हैं, जो आत्मा का ही हित कर सकने वाले वचन हैं, वे ही सत्य वचन हैं और जो बाह्यपदार्थों से संचय के लिये वचन बोले जाते हैं, वे सब अध्यात्मदृष्टि में असत्य वचन हैं। अब साधु होने पर आरम्भ सम्बन्धी कोई भी वचन नहीं बोले जाते हैं। यों सत्य वचनों का संकल्प किया है। यह असत्य के अपराध का प्रायश्चित्त लिया गया है।

अचौर्य महाव्रत का ध्येय और परिणाम- अचौर्य महाव्रत में चोरी के अपराध का पूर्ण प्रायश्चित्त लिया गया है। ज्ञानी चिंतन करता है कि मैंने भविष्य में अनेक विधियों से चोरी का पाप किया है। चोरी केवल धन चुराने को ही नहीं कहते हैं। किसी पुरुष से बचकर जाना हो, वह मुझे न जान पाये कि मैं जा रहा हूं और कदाचित् सामने या कहीं बैठा हुआ मिल जाये तो मुँह छुपाकर जाना या बचा करके जाना- यह भी चोरी है। या किसी का यश बढ़ रहा हो तो कुछ ऐब लगाकर उसके यश को लूटना- यह भी चोरी है। अनेक विधियों से इस जीव ने पाप किया है। अब उन सब अपराधों को दूर करने के लिये अचौर्य व्रत का संकल्प करता हूं। मैं किसी भी प्रकार की चोरी न करूँगा।

ब्रह्मचर्यव्रत का ध्येय और परिणाम- इस ज्ञानी साधु ने दुर्धक ब्रह्मचर्यव्रत का दृढ़ संकल्प किया है। ज्ञानी का यह ध्यान हो रहा है कि मैंने भव-भव में अनेक प्रकार से इस ब्रह्मचर्यव्रत का घात किया। कभी पशु था, पक्षी था, मनुष्य था, उन सभी भवों में कामवासना की पूर्ति थी और एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय जैसे भवों में भी जहाँ कि कुछ साधन भी नहीं हैं, वहाँ अंतरंग में कामवासना का अनुभव किया- ऐसे अनन्त अपराधों का प्रायश्चित्त करने के लिये अब मैं ब्रह्मचर्यव्रत का सर्वथा पूर्णरूप से निरतिचार पालन करने का संकल्प करता हूं। बुद्धि का शुद्ध होना एक बहुत बड़ी सम्पदा है। जिस मनुष्य के शुद्ध ज्ञान नहीं है, धर्मबुद्धि नहीं है, आत्मचिंतन नहीं है, पवित्रता नहीं है, वह पुरुष ज्ञानशून्य समझा जाता है। वह दीन है, गरीब है, भिखारी है, इस संसार में रुलने वाला है। शील से, ब्रह्मचर्य से बुद्धि शुद्ध रहती है। इस ज्ञान में जो प्रसन्नता है, उसकी अनन्तवीं भाग भी प्रसन्नता विषयभोगों में नहीं प्राप्त हो सकती है। यह स्थानीय आनन्द है, शुद्ध आनन्द है, सुगम आनन्द है। अब यह ज्ञानी पुरुष ब्रह्मचर्य के भंग करने का, कामविकार में घुसे रहने का जो महान् अपराध पहिले हुआ था, उसके प्रायश्चित्त में ब्रह्मचर्यव्रत को धारण कर रहा है।

परिग्रहत्याग महाव्रत का ध्येय व परिणाम- वह शुद्धनय प्रायश्चित्त के अधिकार की बात चल रही है। इस जीव ने भव-भव में परिग्रहों में ममत्वबुद्धि की है। जब भी जो कुछ मिला, शरीर ही मिला सही, तो इस शरीर में ही ममत्व किया। एकेन्द्रिय आदिक जीव भी आहार में ममत्व रखा करते हैं। कीड़ा-मकोड़ा, पशु-पक्षी हुए, वहां भी आहार, निद्रा, भय, मैथुन, परिग्रह सम्बन्धी वांछाएँ की तो चार संज्ञावों के ज्वर से पीड़ित होकर महाक्लेश सहे। उन विकट अपराधों का प्रायश्चित्त अब परिग्रहत्याग में हो रहा है। एक सूतमात्र भी जिसके परिग्रह नहीं रहा, नग्न दिगम्बर वन में विचरने वाले मात्र का भी जिन्हें कुछ परिग्रह नहीं है- ऐसी दिगम्बरी दीक्षा का आग्रहण उन सब अपराधों का प्रायश्चित्त है। ज्ञानी इन सब व्रत और तपस्यावों का मर्म जानता है और इससे भी बढ़कर जो साध्य दशा है, उसका इसे खूब परिचय है। वह उस साध्य की सिद्धि के लिये ही इस साधन को बनाये हुए है।

ईर्या, भाषा, एषणासमिति का ध्येय व परिणाम- 5 समिति भी शुद्धनय प्रायश्चित्त हैं। अटपट चले, उससे जो पाप उपजा, उसके फल में जन्म-मरण के दु:ख सहे। अब उन अपराधों को दूर करने के लिये ईर्यासमिति का आचरण चल रहा है। अहित, अप्रिय, सीमारहित वचन बोल-बोलकर दूसरों का चित्त दुखाया, अपनी मौज मानी, रौद्रध्यान में बसे रहे, अब उन अपराधों के प्रायश्चित्त में भाषासमिति का निरतिचार पालन किया जा रहा है। भोजन की ममता तो बहुत विकट अपराध है। यथा-तथा भोजन करना, भक्ष्य-अभक्ष्य का भी विवेक न रखना, जो स्वादिष्ट लगे, उसे ही रुचिपूर्वक खाये, कोई विवेक नहीं और कदाचित् भी शुद्ध भोजन करे, उसमें भी आसक्ति रहे तो वह भी अविवेक और अपराध है। इस भोजन सम्बन्धी भव-भव के किये गये अनन्त अपराधों को दूर करने के लिये चाहिये तो यह था कि निराहार आत्मस्वरूप का स्मरण करके आहार का सर्वथा परित्याग किया जाता, किन्तु अभी उस पवित्र स्थिति के लायक योग्यता नहीं है तो उस निराहार स्वभाव की शुद्धि के लिये विधिपूर्वक शुद्ध भ्रामरी वृत्ति से चर्या की जा रही है। यों इसने एषणासमिति नामक शुद्धनय का प्रायश्चित्त किया है।

आदाननिक्षेपण व प्रतिष्ठापनासमिति का परिणाम एवं शुद्धनयप्रायश्चितपना- किसी प्रयोजनवश चीजों का धरना-उठाना इसमें इस जीव ने किसी भी भव में विवेक नहीं किया, उन अपराधों के प्रायश्चित्त में अब आदान निक्षेपण समिति का पालन किया जा रहा है। यों ही जहाँ चाहे बिना देखे जमीन पर जंतुसहित भूमि पर मलमूत्र का क्षेपण किया जाता रहा वह भी कितना विकट प्रमाद है, उस अपराध को दूर करने लिए प्रतिष्ठापनासमिति का पालन किया जा रहा है। ये व्रत, समिति, शील, संयम आदि ये सब अपराधों को दूर करने के लिए शुद्धनय की दृष्टि से प्रायश्चितस्वरूप हैं। इस प्रायश्चित्त के कारण यह ज्ञानी अपने अपराधों को दूर करेगा, और शुद्ध, स्वाधीन, आत्मीय आनन्दरस का अनुभव करता रहेगा।

शुद्धनयप्रायश्चित में वचनसंयम- वचन, मन और काय का नियंत्रण रखना संयम कहलाता है। वचन खोटे न निकलें, दूसरों को हित पैदा करें और प्रिय हों ऐसे ही वचन निकल सकें अथवा वचनों का पूर्ण निरोध रहे अन्तर्जल्प और बहिर्जल्प दोनों तरंगों का अभाव रहे, यह है वचन संयम, इस जीव ने वचनसंयम न करके अनर्गल बकवाद किया और उससे व्यर्थ पापों का बंध हुआ, अब उन्नति की अवस्था भी इस जीव ने प्राप्त की तो वहाँ वचनों के अनर्गल प्रवर्तन से उस उत्कृष्ट समागम का लाभ न उठा पाया। अब उन सब अपराधों के प्रायश्चित्त में यह वचनसंयम ग्रहण किया जा रहा है। नाम इसका प्रायश्चित्त है, किन्तु अर्थ है उन्नति का मार्ग। जितने भी तप, व्रत, संयम हैं वे सब संसार के अपराधों को दूर करने के लिए हैं। इस कारण संसाररूपी अपराधों का प्रायश्चित्त मोक्षमार्ग है।

मन:संयम- मन का निरोध करना, मन:संयम है। यह मोही जीव मन की कल्पनावों से कैसे-कैसे विचार उत्पन्न करके कितने विकल्पजालों में फँसा हुआ है जिससे कुछ प्रयोजन नहीं, न आजीविका की सिद्धि है, व आत्मकल्याण की सिद्धि है, फिर भी उन विकल्पों को यह जीव कर रहा है और अनर्थ ही पापों का बंध किया करता है। उन समस्त मन की उद्दण्डतावों के अपराध को दूर करने के लिए यह मन:संयम, मनोगुप्ति का धारण किया गया है।

कायसंयम- काय का नियंत्रण करना कायसंयम है। इस व्याकुल, मोही, अज्ञानी प्राणी ने इस शरीर के द्वारा अनेक कुचेष्टाएँ की, इन्द्रिय विषय-भोगों में दूसरों के घात करने की अनेक कुचेष्टाएँ की। उन कायकृत अपराधों से यह जीव संसार में अब तक रुलता चला आया है। मन तो संज्ञी जीव के ही होता है। वचन दो इन्द्रिय से ही प्रारम्भ होता है तो भी दोइन्द्रिय जीव से लेकर असंज्ञी पन्चेन्द्रिय तक के जीवों में वचन-संयम का माद्दा ही नहीं है। काय का अपराध संसार के समस्त जीवों द्वारा हो रहा है। एकेन्द्रिय हों अथवा पंचेन्द्रिय हों सभी संसारी जीव कायवान् हैं और काय का तो संसार अवस्था तक कभी वियोग नहीं होता। इस भव में मरण हो जाय, इस शरीर को छोड़कर जाए तो भी सूक्ष्म काय इसके साथ रहेगा। अनन्त शरीरों को छोड़कर गया यह जीव तब भी सूक्ष्म काय इसके साथ रहा आया। स्थूल शरीर को छोड़कर सूक्ष्म शरीर की यह स्थिति अधिक से अधिक तीन समय तक पर्यंत रहती है। बाद में स्थूल शरीर इस संसारी प्राणी को अवश्य मिल जाता है। काय के द्वारा जो अपराध किए गये हैं अब उन अपराधों के निराकरण के लिए प्रायश्चितस्वरूप शुद्धनय की पद्धति से काय-संयम किया जा रहा है।

शुद्धनयप्रायश्चित में स्पर्शनेन्द्रिय निरोध- मन, वचन, काय के संयम विकारों को दूर करने में समर्थ हैं। उसके गर्भ में यह भी बात आ गई कि पंचेन्द्रिय का निरोध भी शुद्धनय प्रायश्चित्त है, स्पर्शनेन्द्रिय का खोटा विषय कामसम्बन्धी है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी संसारी प्राणियों में, श्रेणी में उच्च योगियों को छोड़कर सबमें व्यक्त अव्यक्त रूप से कामविकार बना रहता है और इस काम की कलुषता के कारण इस जीव के अशुभ कर्मों का बंध होता रहता है। उसके ही फल में यह संसारभ्रमण चल रहा है। ज्ञानी संतों ने अपना अपराध परखा और इन अपराधों को दूर करने के लिए अब स्पर्शनइन्द्रिय के निरोध का संकल्प किया है कि स्पर्शनइन्द्रिय के विषयों में प्रवृत्ति न रक्खूँगा। स्पर्शनेन्द्रिय का विषय सुहावने पदार्थ का स्पर्श भी है। जैसे ठंड के दिनों में गर्म वस्तु का स्पर्श, गर्मी के दिनों में शीतल वस्तु का स्पर्श आदिक सुहावने लगते हैं, वे स्पर्शनइन्द्रिय के विषय हैं। इन विषयों में भी यदि प्रवृत्ति रहे, अनर्गल झुकाव रहे तो कामविकार विषय का रंग हो सकता है। इस कारण ज्ञानी पुरुष स्पर्शनइन्द्रिय के सभी प्रकार के विषयों में अपनी प्रवृत्ति और आसक्ति नहीं रखता है।

रसनेन्द्रियनिरोध- रसना इन्द्रिय के लोभ में इस जीव ने अपने ब्रह्मस्वरूप का भी ख्याल नहीं किया। भला यह रस का स्वाद किस वस्तु से आता है सो बतावो? आत्मा को, जीव को जो सुहावना रस लग रहा है वह रस पुद्गल से प्रकट नहीं होता है। यद्यपि पुद्गल उस रस से युक्त हैं जिसके सम्बन्ध में ज्ञान हो रहा है, किन्तु रस का स्वाद ज्ञानरस का आनन्द पुद्गल वस्तु से नहीं प्रकट होता और इस रस का स्वाद आत्मवस्तु से भी नहीं प्रकट होता है क्योंकि आत्मा में रस कहाँ है? फिर भी यह अशुद्ध जीव जब इन रसीले पदार्थों का सम्पर्क करता है अपनी जिह्वा से तो कैसा इन्द्रजाल है कि स्वाद प्रकट होने लगता है, वह भी मायारूप है, इन्द्रजाल है, इस इन्द्रजाल के चक्र में आकर यह जीव कभी रस का लोभी हो जाता है। इसे अपने इस अमूर्त ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की भी सुध रहती है। इस रसना इन्द्रिय के वश होकर इस जीव ने बड़े अपराध किये, अब उन अपराधों को दूर करने के लिए ज्ञानी संत रसनाइन्द्रिय का निरोध

कर रहा है। रस का परित्याग कर दिया, नीरस भोजन कर दिया। रस का आगे पीछे कुछ सम्पर्क न रखना, ख्याल ही न करना आदिक रूप से अब यह रसना इन्द्रिय का निरोध चल रहा है। यह भी शुद्धनय की दृष्टि से प्रायश्चित्तरूप है।

घ्राणेन्द्रियनिरोध- घ्राणेन्द्रिय का विषय जो कि बिल्कुल व्यर्थ सी चीज है। इत्र, पुष्प, सुगन्धित वस्तुवों को सूँघना और उनकी सुगन्ध पाकर अपने में मौज मानना, इन विषयों के उपयोग में इस जीव ने अपना समय व्यर्थ गुजारा है और व्यर्थ की लालसा, तृष्णा से कर्मों का बंध किया है। अब उन अपराधों को दूर करने के लिए यह ज्ञानी संत घ्राणेन्द्रिय के विषयों की लिप्सा का परित्याग करता है। यों यह घ्राणेन्द्रिय का निरोध भी घ्राणेन्द्रिय के विषय में लगने रूप अपराध का प्रायश्चित्त है।

नेत्रेन्द्रियनिरोध- यह जीव सुहावने रूप के अवलोकन में उद्दण्ड होकर प्रवृत्ति कर रहा है। खेल, सिनेमा, थियेटर आदि अनेक खेलों की बातें और सुहावनी भी बातें, विरोधभरी लड़ाईयों की घटनाएँ- ये सब निरखी जा रही हैं और इनके निरखने में यह जीव मौज मानता है, अपनी नींद खो देता है, अपना समय भी बरबाद कर देता है। इस रूपावलोकन के फल में मिला क्या इस जीव को? धन की, समय की, बुद्धि की- सभी की बरबादियाँ कर ली जाती हैं। नेत्रेन्द्रिय के इन अपराधों से जो बरबादी होती है, जो कर्मबन्ध होता है और विकार संस्कार लगे हैं, उन सब अपराधों को दूर करने के लिए अब नेत्रेन्द्रियनिरोध का यत्न किया जा रहा है।

श्रोत्रेन्द्रियनिरोध- कर्णेन्द्रिय के सुहावने शब्द सुनने में आते हैं। कलाएँ भी कैसी-कैसी विचित्र हैं? संगीत की कला, गायन की कला- इन कलापूर्ण गायनों में, ध्वनियों में यह जीव मौज मानता है। हाँ कदाचित् उनको सुनकर इसमें ज्ञान और वैराग्य आये, तब तो कुछ भला साधन भी कहा जा सकता है, किंतु प्राय: मोही जीव इन संगीतों और गीतों को सुनकर अपना राग ही पुष्ट करते हैं। शरीरबल, मनोबल इन सबका विनाश करते हैं, इस कर्णइन्द्रिय के अपराध के निराकरण के लिए अब यह श्रोत्र इन्द्रिय के विषय का निरोध करना, यह शुद्धनय प्रायश्चित्त ज्ञानी ने उचित समझा है। यों यह ज्ञानी-संत अपने अपराधों को दूर करने के लिए प्रायश्चितरूप में इन समस्त साधनावों को साध रहा है।

परमसमाधि की अभिमुखता- ये योगीश्वर, जो मोक्षमार्ग में प्रगति कर रहे हैं ये अपने आत्मा के अन्तर्मुख बने रह सकते हैं। परमसमाधि इसी का नाम है कि रागद्वेष के विकल्पजालों से मुक्त होकर अपने आपमें समतामृत का पान करके तृप्त रहना यही परमसमाधि है। समाधि शुद्ध आनन्दस्वरूप होती है। समाधि का उल्टा भाव है विषयवृत्ति। किसी भी विषय में प्रवृत्ति न रहे, मन, वचन, काय का निरोध रहे वहीं परमसमाधि प्रकट होती है। ऐसे उत्कृष्ट परमसमाधि से युक्त योगीश्वरों ने व्रत, तप, शील, संयम आदिरूप शुद्धनय प्रायश्चित्त किया है।

निष्परिग्रहता- आत्मोद्धार के लिए इस पुण्यात्मा पुरुष ने समस्त परिग्रहों का त्याग किया, केवल शरीर मात्र ही समझो परिग्रह रह गया। वह भी परिग्रह नहीं है क्योंकि शरीर में ममतापरिणाम नहीं है, पर निमित्तनैमित्तिक बन्धन को क्या करें, आज यह आत्मा शरीर में जकड़ा है, इस शरीर को छोड़कर अलग नहीं बैठ सकता। शरीर के साथ इसकी भी क्रिया चलती है। इसके योग के साथ शरीर में भी चलन होता है ऐसा निमित्तनैमित्तिक बंधन है, तिस पर भी जिसने वस्तुस्वरूप का यथार्थ परिचय किया है ऐसे पुरुष को यह आत्मतत्त्व इस शरीर से न्यारा स्वतंत्ररूप वाला नजर आ रहा है। यह शरीर जड़ है, भिन्न है, इसका वियोग होगा। मैं आत्मतत्त्व अपने स्वरूप हूं। ऐसा स्वतन्त्र वस्तुस्वरूप का भान जिस ज्ञानी जीव के है,

उसे इस शरीर का भी परिग्रह नहीं है। जो शरीर का भी परिग्रह नहीं करता है, वह शरीर के विषयों में क्या पड़ेगा? इन्द्रिय के फैलाव से रहित शरीरमात्र ही जिसका परिग्रह है- ऐसे निर्ग्रंथ दिगम्बर समाधियुक्त परमयोगीश्वर संसार के इन पाप के अपराधों का प्रायश्चित्त कर रहे हैं। कठिन तपस्याएँ, व्रत की साधनाएँ- ये सब अपराधों को दूर करने के लिये यत्न हैं, जिनके फल में ज्ञानानन्दस्वरूप यह आत्मतत्त्व प्रकट होगा।

परमवैराग्य- ये योगी पुरुष मानों वैराग्य के महल पर ठहरे हुए पारस की मणि की तरह हैं। जैसे बड़े विशाल महल की शोभा महल के ऊपरी हिस्से की कला पर निर्भर रहती है। वहां मणि लगी हो, शिखर उठा हुआ हो, अच्छे कंगूरे लगे हों तो उस महल की शोभा होती है। महल तो बना दिया जाए चार-छः खण्डों का और ऊपर की छत मुंडेररहित भी हो और अटपट बनी हो तो उसकी भी शोभा नहीं रहती है। यों ही जो सज्जन पुरुष, ज्ञानी पुरुष, परोपकारी कितनी ही साधना कर रहे हों, पर वैराग्य का पद यदि नहीं है, यश का लोभ है, नामी चाह है, अन्य-अन्य प्रवृत्तियां है तो फिर उस मनुष्य की क्या शोभा है? वह अपने कल्याण से भी वंचित है। वैराग्यरूपी महल के शिखर में लगी हुई मणि की तरह यह परम योगीश्वर शुद्ध नय प्रायश्चित्त किया करता है।

परमागमनेत्र- योगीजनों के नेत्र शास्त्र हैं, लौकिक जनों के नेत्र चमड़े के हैं। लौकिक जन जो कुछ करते हैं, इन चमड़े के नेत्रों से निरखकर करते हैं और ज्ञानी पुरुष जो कुछ करते हैं, शास्त्रों को निरखकर करते हैं। शास्त्रों में ऐसा है तो करना है और नहीं है तो नहीं करना है? उन्हें क्या करना है, किस कर्तव्य से चलना है, कौनसी चर्या का पालन करना है? यह सब बताने वाले शास्त्रनेत्र हैं। ज्ञानी पुरुष इस शुद्ध परमागम के इतने सेवक हैं कि उनके लिये इस परमागम की सेवा के मुकाबले यह पाया हुआ धन वैभव भी कुछ नजर नहीं आता है। समस्त वैभव भी लुटे तो लुट जाए, किंतु अपना ज्ञान, अपना वैराग्य, अपना शुद्ध परिणाम, अपनी श्रद्धा, देव, शास्त्र, गुरु की सेवा- इनमें भंग न हो सके- ऐसा ज्ञानी पुरुष का यत्न रहता है।

ज्ञानप्रकाश से मोहान्धकार का विनाश- योगीजन शुद्ध सहज स्वात्मा का चिंतन किया करते हैं। यही उनका प्रायश्चित्त है। जो भी दोष होते हैं, उन दोषों का निराकरण गुणमय स्वरूप का आलम्बन लिए बिना नहीं हो सकता है। जैसे रात्रि के अंधकार का विरोधी जो दीपप्रकाश है, सूर्यप्रकाश है, ज्योतिर्मय वस्तु का प्रकाश है, वह जब तक न आये, तब तक अंधकार रहता है। ज्यों ही प्रकाश आया कि अंधकार नहीं ठहर सकता है। इसी प्रकार यह दोषरूपी अंधकार, विकार- ये जीव में जब तक ठहर रहे हैं, तब तक ज्ञानप्रकाश नहीं आया है। जब कुछ विदित ही नहीं है कि यथार्थतत्त्व मैं क्या हूं और ये दृश्यमान समस्त पदार्थ हैं, इन पदार्थों से मेरा क्या संबंध है, मेरा क्या कर्तव्य है, कहां से आया, कहां जाऊँगा, इस समागम से क्या लाभ होगा इत्यादि कुछ भी विवेक नहीं जगा है और आत्मा का जो सहज चिदानन्दस्वरूप है, उसका अनुभव नहीं हुआ है तो यह विषयों की प्रवृत्ति, कषायों के प्रवर्तन- ये सब चलते रहेंगे। इस अन्धकार का विनाश ज्ञानप्रकाश से होता है। सो उस ज्ञानमय आत्मतत्त्व का चिंतन करना ही इन सब अपराधों का प्रायश्चित्त है।

साधुवों की साधुता- ज्ञानीजन इन प्रायश्चितों को निरन्तर किया करते हैं। मोक्षमार्ग इसी में है- अपराधों को दूर करना और गुणत्वरूप आत्मतत्त्व का विकास करना। मुनिजनों को अपने आत्मा के चिंतन के अतिरिक्त अन्य कुछ चिंता नहीं रहती है। योगी, मुनि परमेष्ठियों में शामिल हैं। परमेष्ठियों में अरहंत सिद्ध परमात्मा नाम है और परमेष्ठियों में साधु का भी नाम है। अब समझ लीजिये कि साधु पुरुष कितना उत्कृष्ट आत्मा

है? यदि वह परमात्मा के निकट रहता है, परमात्मा के समान नहीं तो परमात्मा के अनुरूप परमात्मा के बताये हुए शुद्ध मार्ग पर चल सकता है, जिनका केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूप का ही चिंतन चलता है, जिनका संसार के झगड़े-वगड़े से कोई सम्बन्ध नहीं है- ऐसे पुरुष ही साधु कहला सकते हैं। साधु पुरुष को सिवाय आत्मकल्याण के, आत्मचिंतन के, आत्मज्ञान के अन्य कोई काम नहीं रहता है। यदि अन्य कुछ काम रहे तो वह साधुपद के योग्य नहीं है। अन्य चिंताएँ करना, आरम्भ परिग्रह में लगना, इन्द्रियविषयों में प्रवृत्ति करना, खाने-पीने में मौज मानना- यह संसारी प्राणियों की आदत है। जो संसार में रुलने वाले हैं, जिनका मोक्ष निकट नहीं आया है, जो विमूढ़ हैं, कर्मों से पीड़ित हैं- ऐसे पापी पाप को उत्पन्न करते हैं। मुनिजनों को तो केवल एक आत्मोद्धार की चिंता है।

संसरणापराध का प्रायश्चित्त शुद्धनयात्मक आचरण- अहो ! अनादि से अब तक कितने अपराध यह जीव करता चला आया है? जो शरीर पाया, जो समागम पाया, उसमें ही आसक्त रहा और उसके फल में 84 लाख योनियों में भ्रमणरूप महान् संसार इसे प्राप्त हुआ। अब शुद्ध दृष्टि करके आत्मा के एकत्वस्वरूप को निहारकर एक ज्ञानप्रकाशस्वरूप अपने को अनुभव करके इस शुद्ध आनन्द का अनुभव किया जाये, बस यही इन अपराधों का प्रायश्चित्त है। इस प्रकार इस गाथा मे व्रतपालन, समितिपालन, शीलपालन, संयम की प्रवृत्ति, इन्द्रियों का निरोध आदिक जो कुछ भी मोक्षमार्ग है, उस मोक्षमार्ग को अपराधहारी शुद्ध नय प्रायश्चित्त कहा गया है। इस शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त के परिणाम से यह जीव अवश्य ही मोक्ष पायेगा। अपराध को दूर करना उन्नतिशील पुरुष का कर्तव्य है। यों शुद्ध नय प्रायश्चित्ताधिकार की प्रथम गाथा में संग्रहरूप से यह बता दिया है कि शुद्ध श्रद्धान, ज्ञान और आचरणरूप रत्नत्रय ही संसार के अपराधों को दूर करने में समर्थ है।

गाथा 114

कोहादिसगब्भावक्खयपहुदिभावणाए णिग्गहणं।

पायच्छित्तं भणियं णियगुणचिंता य णिच्छय दो ।।114।।

अविकारस्वभाव के उपयोगरूप निश्चयप्रायश्चित- क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक अपने विकार भावों के विलय की भावना में अपने आपके उपयोग को बनाए रहना और आत्मा के सहजसिद्धस्वभाव का चिंतन करना- यह निश्चय से प्रायश्चित्त कहा गया है। निश्चयप्रायश्चित में यह सामर्थ्य है कि समस्त कर्मों को यह मूल से उखाड़ देता है। जहां अविकारपरिणमन हो, वहां विकारपरिणमन कैसे रह सकता है? जहां अविकारस्वभाव का आलम्बन हो, वहां अविकारपरिणमन चलता है। इस अनादिकाल से कर्ममल से दूषित चतुर्गति संसार में भ्रमण करते चले आ रहे हैं, यह सब अपने को विकारात्मक प्रतीत करने का परिणाम है। इस जीव ने कभी भी अपने को अविकारस्वभावरूप से निश्चय नहीं किया है। यदि अविकारी स्वभावरूप से निश्चय कर ले तो न इसे कोई आकुलता रह सकती है, न कोई उलझन रह सकती है।

ज्ञानप्रकाश से निमित्तनैमित्तिक बंधन का त्रोटन- भैया ! उलझन किसी बाहरी क्षेत्र में नहीं है। जगत् में अनन्त पदार्थ हैं, ये सब पदार्थ अपना-अपना स्वतन्त्र स्वरूप रखते हैं। प्रत्येक पदार्थ में अपना-अपना परिणमन निरन्तर चलता रहता है, फिर किसी भी अन्य पदार्थ के परिणमन से किसी अन्य पदार्थ में उलझन कैसे आ सकती है? पुद्गल पुद्गल में निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, वह विवश है, होता है ऐसा। जीव और कर्म में भी निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है और इस निमित्तनैमित्तिक बन्धन में यह जीव भी विवश

है, परन्तु उसकी विवशता अनुपाय नहीं है। जब यह जीव अपने अविकारस्वभाव को संभालता है तो वही यह लोक है, वही यह शरीर है, वही कुछ काल तक व्यापार भी रहता है, फिर भी ज्ञानप्रकाश में जीव का बन्धन और संसारभ्रमण नहीं रहता है। अविकारस्वभाव से इस जीव ने अपने आपको पहिचाना होता तो आज यह दुर्गति न होती।

प्रबल संकट के विनाश का सुगम उपाय- मोह का ऐसा प्रबल प्रताप छाया है कि यह जीव जिस शरीर में पहुंचता है, उस शरीर को ही 'यह मैं हूं' यों आत्मारूप से स्वीकार करता है। साथ ही जो समागम इसे मिला है, उस समागम में 'यह मेरा है' ऐसा ममत्वपरिणाम करके अपने आपकी अनन्त आनन्दनिधि को भूल जाता है। ऐसे प्रबल संकट में फंसा हुआ यह जीव आज बहुत अपूर्व अवसर को प्राप्त हुआ है। यह चाहे तो क्या अज्ञान और ममता का परित्याग करके अपने प्रकाश का अनुभव न कर सके? सब ज्ञानसाध्य बात है। यदि कठिन तपश्चरण नहीं बनता है तो कठिन तपश्चरण न करे, उस पर जोर नहीं दिया जा रहा है, परन्तु जो केवल एक जानने-मानने के उपाय से ही बहुत बड़ा काम हो सकता है तो उस विधि से जानना और मानना भी न बन सके तो यह महामूढ़ता है। उपयोग द्वारा केवल अन्तरंग में अपने आपको सहजस्वरूप में देखना है। इतनाभर कोई काम कर सके तो उसने धर्मपालन किया।

धर्म के आश्रय में सर्वदा आनन्द का लाभ- धर्मात्मा पुरुष जब तक संसार में रहता है, तब तक संसार की सुखसमृद्धियों को भोगता है, फिर शीघ्र ही संसार को समाप्त करके यह निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। धर्म में सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है। धर्म करते हुए कुछ काल तक संसार में रहता है तो भी आनन्द है और धर्म के फल में संसार के संकट नहीं रह सकते हैं। सो संसार के संकटों से छूटकर मुक्तावस्था व्यक्त है तो वहां आनन्द रहता ही है। यह धर्म समस्त कर्मों को मूल से नष्ट करने में समर्थ है। इन रागद्वेषादिक कर्मों का कैसे विनाश हो, इसका उपाय एक कारणसमयसार की भावना है। समस्त मोह, राग, द्वेष विभावों को दूर करने में समर्थ ऐसे स्वभाव वाला जो निज कारणप्रभु है, चैतन्यस्वभाव है, उस स्वभाव की भावना होने पर स्वत: ही प्रायश्चित्त हो जाता है।

अपराधों का प्रायश्चित्त अपराध न करना- अपराधों का प्रायश्चित्त अपराध न करना है। इस जीव ने राग, द्वेष, मोह का विकट अपराध किया है, विषय-कषायों में लगे रहने का घोर पाप किया है। अब उसका प्रायश्चित्त यह है कि उन पापों को न करे और परमात्मगुणात्मक जो शुद्ध अन्तस्तत्त्व है, उस स्वरूप जो सहज ज्ञानादिक गुण हैं, स्वभावगुण हैं, उनका चिंतन करे। यह ज्ञानी द्वारा किया जाने योग्य निश्चय प्रायश्चित है। प्रायश्चित्त का यह भी अर्थ होता है- प्राय: मायने अपराधों का व चित्त का याने शोधन करना। अपराधों का शोधन निरपराधस्वभाव की भावना में है अपराध शब्द का क्या अर्थ है? अप मायने दूर हो गई है राधा जिससे। 'अपगता राधा यस्मात् स अपराध:।' राधा नाम सिद्धि का है। कोई किसी का नाम राधा व सिद्धि रख ले तो यह बात अलग है। राधा नाम है आत्मसिद्धि का। आत्मा के निरपेक्ष सहज चैतन्यस्वरूप का उपयोग होना- इसका नाम राधा है। यह राधा जहां नहीं रहती है, ऐसे परिणाम का नाम अपराध है।

काम बैरी से त्रस्त होने पर भी काम की दासता में मौज मानने की मूढ़ता- काम, क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह- ये 6 जीव के वास्तविक बैरी हैं। यह जीव दूसरे जीवों को बैरी समझ रहा है- ऐसी जो उसकी समझ है, वह समझ है उसका बैरी। दूसरा जीव बैरी नहीं है। इन 6 बैरियों के स्वागत में लगे हुए संसारी प्राणी कितने क्लेश पा रहे हैं? यह भी अनुभव में कुछ-कुछ है, फिर भी उन बैरियों की शरण में ही

यह जाता है। कोई मूढ़ पुरुष बैरियों से सताया जाये और उन बैरियों का ही आदर करे तो यह विवेक तो नहीं है ना? इसी प्रकार हम आप सब जीव काम, क्रोध आदिक 6 बैरियों से सताये हुए हैं और फिर भी इन्हीं को शरण मानते हैं। जो पुरुष कामवासना से आसक्त है, उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, सज्जनता नहीं रह सकती है। वह धर्म का पात्र ही क्या, जिसके चित्त में दुर्गंधित, अपवित्र मायामय शरीर ही रुच रहे हैं? जो नाक, थूक, खून आदि अशुचि पदार्थों से भरी हुई थैली है- ऐसे इस शरीर को ही जो अपना हितकारी समझ रहा है, वह धर्म कहां से करे? धर्म नाम तो आत्मा के स्वभाव का है। जिसकी दृष्टि ही पर की ओरफंसी है, वह धर्म नहीं कर सकता है।

क्रोधवैरी की गुलामी करके चतुराई मानने की मूढ़ता- क्रोध चाण्डाल बताया गया है। जो क्रोध करता है, जिसकी नाक-भौंह चढ़ रही हैं, लाल मुख हो गया है, कबूतर की तरह नेत्र खड़े हो गये हैं- ऐसा पुरुष शक्ल-सूरत में कितना भद्दा नजर आता है? क्रोध करते हुए की हालत में कोई पुरुष अचानक फोटो ले ले और फिर उसे खूब निरखे तो पता पड़ेगा कि क्रोध चाण्डाल है, लेकिन यह मोही जीव किसी बात पर क्रोध करता है तो यह क्रोध की करतूत को अपनी चतुराई समझता है।

मान के विनाश में अपराधों का प्रायश्चित्त- मान कितना घृणित विभाव है? मान करने वाले पुरुष लोगों की दृष्टि में कितने निंद्य दृष्टि से नजर आते हैं? मानी जानता है कि मैं बड़ा हूं और लोग जानते हैं कि यह अभिमानी है, मूर्ख है। यह मानी मानकषाय में रत होकर अपनी कल्पनाएँ बुन रहा है। लोग उसे नीच समझ रहे हैं। मान करके तो कोई बड़प्पन नहीं मिलता है, फिर वास्तविक परमार्थ, बड़प्पन कैसे मिले? इस जीव को गुप्त ही गुप्त मुर्दा चोटों से यह मान सता रहा है, लेकिन इसे सद्‌बुद्धि नहीं आती है कि मैं कभी भी मान न करूँ। मान किस पर करूँ? सर्वजीव स्वरूपत: एक समान हैं और जो गरीब, अमीर, बुद्धिमान, मूर्ख नजर आ रहे हैं, वह जीव का स्वरूप नहीं है। ये कर्मोपाधिकृत बातें हैं। मान करने का तो कुछ ठौर ही नहीं है। यह मान बैरी है। इसके विनाश से भावशुद्धि होती है और अपराधों का प्रायश्चित्त बनता है।

माया की सेवा में अपनी बरबादी- मायाकषाय जो वक्रता के रूप से उदाहरण में आती है। यह बड़ा कुटिल है, टेढ़ा है, इसकी माया ऐसी दुर्गम है कि इसके हृदय की कोई परख नहीं कर सकता है। भला इस असार संसार में कौनसी वस्तु ऐसी है, जिसको पाने के लिये मायाचार किया जाये? प्रत्येक पदार्थ छूटे हुए हैं, न साथ आए हैं और न साथ जायेंगे। इन बाह्यपदार्थों की प्राप्ति के लिए मायाचार करके अपना भविष्य और बिगाड़ लिया जाता है। इस माया के अपराध को दूर करने में समर्थ सरलता है।

लोभ की विडम्बना में शरण मानने की मूढ़ता- लोभकषाय में तो यह सारा जगत् रंगा हुआ है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक समस्त प्राणी चारों कषायों में रंगे हैं, पर लोभकषाय की तो रंगीनता प्रत्येक जीव, व्यक्ति में नजर आती है। चींटी-चींटा, कीड़ा-मकोड़ा भी अपने आहार की तलाश में रहा करते हैं, आहार को खींचे-खींचे फिरते हैं। मनुष्य तो लोभियों में सरताज है। पशु पक्षी क्या लोभ करते हैं? समय पर खाने को मिल गया तो खा लिया और संतुष्ट हो गये, कल के लिए कोई चिंता नहीं है। पक्षियों को दाने मिल गए तो खा लिए और उड़ गये, वे प्रसन्न हैं, कल के लिए संचय करके कुछ नहीं रखते। देखा होगा कि जब उन्हें वेदना होती है तो तलाश करके खा लिया और पेट भर गया काम खत्म हो गया। पर ये मनुष्य इतना संचय करते हैं कि उस धन से कई पीढ़ी बैठकर खायें, खा सकें। उतने धन से तो भी संतोष नहीं हो पाता है। अरे, फिर सन्तोष कब किया जाएगा? बडे-बडे गरीब, दीन, भिखारी इस लोक में अपना

गुजारा कर रहे हैं। अरे उनकी अपेक्षा हम आप सबकी स्थिति कितनी उच्च है? लेकिन तृष्णा के कारण इस प्रकार की पाई हुई स्थिति में भी चैन से नहीं रह सकते हैं। यह लोभ भी इस जीव को बुरी तरह से पीड़ रहा है, लेकिन यह मोही प्राणी अज्ञानवश इस लोभ की ही शरण में बना रहता है।

ज्ञानस्वभाव की भावना में अपराधों का विलय- जो आत्मा में सहज अनादि अनन्त अहेतुक परमपारिणामिक भाव है, उसकी भावना होने पर ये सब प्रायश्चित स्वयमेव हो जाते हैं। ये कामादिक 6 प्रकार के विकारों के किए जाने का जो महान् अपराध है, उस अपराध के क्षय की सम्भावना अथवा उन अपराधों के क्षय करने में ये समर्थ अविकार ज्ञानानन्दस्वरूप को सम्यक्भावना ही उग्र प्रायश्चित्त है। जैसे किसी घर में छोटे बालक उद्दण्डता कर रहे हों, ऊधम मचा रहे हों तो किसी एक घर के महापुरुष की ललकार से ही वे सब बच्चे ऊधम छोड़कर एक कोने में शान्त होकर बैठ जाते हैं और फिर उस कमरे को त्याग भी देते हैं, इस ही प्रकार इस अध्यात्म क्षेत्र में ये काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदिक विभाव ऊधम मचा रहे हैं। एक अविकारी ज्ञानस्वभाव की दृष्टि थोड़ा ही किलकार देती है तो ये समस्त विकार अपना ऊधम छोड़कर शान्त हो जाते हैं और निकट समय में ही इस आत्मा को छोड़ भी देते हैं। एक ज्ञानस्वभाव की भावना के सिवाय अन्य कुछ इस जीव का शरण नहीं है।

प्रभुता के प्रयोग का अनुरोध- बड़े-बड़े ऋषि-संतों ने तपश्चरण के द्वारा शुद्ध पद का आनन्द भोगकर, उससे तृप्त होकर जगत् के जीवों पर करुणा करके यह बात कही थी कि लोक की विभूति में कुछ आनन्द नहीं है, इसकी ओर दृष्टि आकुलता को पैदा करती हुई ही होती है। आत्मा रोता ही जाता है जब यह बाहरी पदार्थों में लगता है। सूना, हल्का प्राणी जैसे अधीर होकर डोलता रहता है ऐसे ही अपने उपयोग से सूना यह जीव भी जगत् में बाहरी पदार्थों की आशा कर करके डोलता रहता है। इसे अपने आपके पद में ठौर न मिलने के कारण चैन नहीं मिलती है। सुख के लिए यह जीव अनेक उपाय करता है। अनेक उपाय करके देख भी लो, किन्हीं भी उपायों से आत्मा में शान्ति आ नहीं सकती। केवल एक सम्यग्ज्ञान के अर्जन का उपाय ही सत्य उपाय है। जिस उपाय से, नियम से शान्ति उत्पन्न होगी। शान्ति आत्मा की परिणति है, वह किसी बाह्य पदार्थ के आश्रय से कहाँ प्रकट हो सकती है? शान्त स्वभाव की ज्ञानप्रकाशमय जो आत्मा की प्रभुता है उस प्रभुता के उपयोग में ही शान्ति मिल सकती है।

आत्मोद्धार का उपाय- भैया ! एक सहज निजतत्त्व का आलम्बन छोड़कर अन्य बातों में फँसने से क्या हाल होता है, इसके लिए ये सारे अमीर और गरीब लौकिक उदाहरण हैं। बहिर्मुखदृष्टि में न तो अमीर प्रसन्न हैं और न गरीब प्रसन्न हैं। अज्ञानवश सभी संसारी प्राणी अपने उपयोग को भटका रहे हैं। यहाँ कुन्द-कुन्द प्रभु आत्मोद्धार के उपाय में यह कह रहे हैं कि क्रोधादिक विकारभावों से हम दूर हों, इस प्रकार की भावना बनाएँ और अपने शुद्ध, सहज, सनातन, चिदानन्दस्वरूप का दर्शन करके, चिन्तन करके अपने आपको संतुष्ट करें। अपने आपमें यह परमार्थ संतोष मिल सके तो इस जीव का मोक्षलाभ अति निकट है। ऐसे ही मूल ग्रन्थों में और आचार्य के ग्रन्थों में एकमात्र ही उपाय आत्मा के उद्धार का कहा गया है।

गाथा 115

कोहं खमया माणं समद्दवेणज्जवेण मायं च।

संतोसेण य लोहं जयदि खुए चउविहकसास ।।115।।

कषायविजय का कर्तव्य- पूर्व गाथा में यह बताया गया था कि क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक विभावों के क्षय की भावना में रहने का नाम निश्चय-प्रायश्चित्त है अथवा जिस प्रकार उन कषायों का विलय हो उसी प्रकार पुरुषार्थ करने का नाम प्रायश्चित्त है। इस उपदेश श्रवण के बाद यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है कि कैसे इन कषायों का विजय हो? इन्हीं चारों कषायों के विजय के प्रतिपादन में यह गाथा आयी है। क्रोध को क्षमा से जीतो, मान को मार्दव से जीतो और लोभ को संतोष से जीतो। इस प्रकार चारों प्रकार के कषायों को योगी पुरुष जीतते हैं।

जघन्य क्षमा- क्षमा तीन प्रकार की होती है- जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। कोई पुरुष अकारण ही खोटा बोलने वाला हो, मिथ्या अभिप्राय वाला हो, किसी प्रकार का संक्लेश का वातावरण उपस्थित करे, झूठ बोले अथवा गालीगलौज की वाणी कहे, उस समय यह कुछ विपदा अनुभव करने को तैयार हुआ हो और कुछ विपदा का परिणाम बना लिया हो उस काल वह पुरुष अनिष्ट जंचने लगता है। उसही समय वह चला जाय, दूर हो जाय तो उस काल में ऐसा परिणाम आता है कि चलो टला यह और उसके प्रति कोई बदले का भाव नहीं रखे, उसको किसी प्रकार सताने के लिए या प्रत्यपकार करने के लिए कोई मंसूबे नहीं रखे, किन्तु इतना ही मात्र संतोषक भाव हो कि चलो यह चला गया, छुट्टी पायी। अब उसके सताने का कोई भाव नहीं रखे, उसे क्षमा कर दे, जीव सुख से रहे- इस प्रकार का क्षमारूप परिणाम हो सो यह जघन्य क्षमा है।

मध्यम क्षमा- मध्यम क्षमा है उस प्रसंग में कि कोई पुरुष अकारण कोई त्रास कर रहा हो, मुझे ताड़ रहा हो, पीट रहा हो अथवा प्राणघात कर रहा हो, प्राणघात के लिये उद्यमी हुआ हो, ऐसे समय में इसका कुछ और विशेष संक्लेश होना प्राकृतिक है। यह दु:खी होता है, उसे अनिष्ट मानता है, क्लेश अधिक है, बदला लेने का भाव भी कर सकता है। ऐसे ही प्रसंग में वह अपने आप निकल जाय, हट जाय, दूर हो जाय तो वहाँ एक संतोष की सांस ले लेना और उसे कुछ जताने का या बदला लेने का कोई परिणाम न रखना, इतना ही मात्र भाव रखना, चलो यह चला गया छुट्टी पायी, जान बची, लाखों पाये। अब उस पुरुष के प्रति कोई बदले का भाव न रखना, यह मध्यम दर्जे की क्षमा है।

भैया ! बात तो दोनों में यद्यपि एकसी है लेकिन वातावरण का अन्तर है। एक पुरुष केवल बाहर खड़ा हुआ अप्रिय वचन ही बोल रहा था, अपयश, उपवाद या गालीगलौज दोष लगाना आदि ही कुछ कह रहा था, पीट नहीं रहा था ऐसे पुरुष के प्रति अल्प संक्लेश होता था और अल्प अनिष्टता जँची थी, उसके प्रति क्षमाभाव आ जाना यह जघन्य क्षमा है और जो पीट भी रहा था, अनेक संत्रास दे रहा था ऐसे परिणाम के प्रति भी उसी प्रकार बदले का भाव नहीं आना और उसके चले जाने पर संतोष करना, यह परिणाम हुआ है। यह मध्यम क्षमा है।

उत्कृष्ट क्षमा- उत्कृष्ट क्षमा उस भावशुद्धि में होती है, जहां ताड़े, पीटे, मारे जाने पर भी यह चिंतन रहता है कि मैं आत्मा अमूर्त हूं, परमब्रह्मस्वरूप हूं, आकाशवत् निर्लेप मात्र ज्ञानप्रकाशरूप हूं, इससे मुझ आत्मा का कुछ अपकार नहीं होता है, कोई विनाश या विच्छेद नहीं होता है, इस प्रकार शुद्ध स्वरूप का चिंतन करके अध्यावाध सर्वसंकटों से मुक्त शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व में स्थिर होना, परमसमता रसका पान करके तृप्त रहना- यही कहलाती है उत्तम क्षमा। यहां किसी परजीव पर दृष्टि भी नहीं है। ऐसी क्षमावों के द्वारा क्रोधकषाय को जीतो।

जैसे गर्मी और ठण्ड- इन दोनों का परस्पर विरोध है। जहां गर्मी है, वहां ठण्ड नहीं और जहां ठण्ड है, वहां गर्मी नहीं। इसी प्रकार क्रोध का और क्षमा का परस्पर विरोध है। जहां क्रोध उबल रहा है, वहाँ क्षमा का नाम नहीं और जिस उदारचित्त में क्षमा का भण्डार है, वहां क्रोध का नाम नहीं। क्रोध को जीतने का उपाय क्षमा परिणाम ही है।

क्षमा का अर्थ ज्ञानी का विवेक- जगत् में सभी जीव स्वतन्त्रस्वरूप वाले हैं। उनका उनमें उनकी योग्यता से परिणमन चलता रहता है। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ में अपनी कुछ कला नहीं बना सकता है। फिर मेरा बिगाड़ करने वाला लोक में कौन है? हम ही कल्पनाएँ करके व्यर्थ का विकल्प मचाकर दु:खी हुआ करते हैं। सभी दु:ख कल्पना से ही अपने विकल्प के कारण होते हैं। दूसरा कोई किसी को दु:ख पहुंचा ही नहीं सकता। कोई क्या करे? अपने मन, वचन, काय की प्रवृत्ति ही तो करेगा और कदाचित् मान लो कोई पुरुष हाथापाई भी करने लगे, शस्त्रों से, लाठियों से ताड़ना भी करने लगे तो उस समय तो मैं शरीर नहीं हूं। कुछ यह पुद्गलस्कंधों का निमित्तनैमित्तिक भाव चल रहा है तो चल रहा है, किन्तु मैं आत्मा अमूर्त हूं, ज्ञानानन्दपुंज हूं। इस अमूर्त आत्मा में तो अग्नि तक का भी प्रवेश नहीं है। यह आत्मा न अग्नि से जल सकता है, न पानी से गल सकता है, न हवा से उड़ सकता है और न किसी के कूटे से कुट सकता है। यह सद बाधारहित है।

क्लेश का कारण अपना ज्ञान- कोई पुरुष इस शरीर को ताड़ रहा है तो यह कल्पना बनाता है कि हाय, मैं मरा, अब क्लेश होने वाला है, मेरा सब कुछ सब मिट जाने वाला है- ऐसी कल्पना की तो उसका क्लेश है, न कि किसी पुरुष को मारा-पीटा उसका क्लेश है। जब सभी जीव अपने-अपने कषाय भाव के अनुसार अपना परिणमन करते हैं तो हम यहां किस बात पर क्रोध करें? क्रोध करें तो अपने विभावों पर करें। मेरा बैरी, मेरा विनाश करने वाला मेरा अज्ञान परिणाम है। भव-भव में रुलाने वाला मेरा मोहभाव है। इस मोहभाव को नष्ट करें तो यह है सच्ची बुद्धिमानी और बाह्यपदार्थों पर क्षोभ का परिणाम आना, यह कोरी अज्ञानता है, अविवेक है।

ज्ञानी के अन्तर में क्षमा का रूप- भैया ! ज्ञानी गृहस्थ को भले ही किसी परिस्थिति में मारने-ताड़ने वाले से गुजारा करने के लिए मुकाबला करना पड़ता है, इतने पर भी ज्ञानी जीव का दूसरे के प्रति अकल्याण करने का भाव नहीं रहता है। कदाचित् किसी गृहस्थ को किसी चोर-डाकू के मुकाबले में कोई शस्त्र भी चलाना पड़े और उन शस्त्रघात से वह प्राणी, वह डाकू प्राणांत भी कर जाए तो भी यदि यह ज्ञानी गृहस्थ है तो उस परिस्थिति में इसके प्रत्याक्रमण करने के बावजूद भी उसके संकल्पी हिंसा नहीं हुई, अनन्तानुबन्धी क्रोध नहीं लगा। ज्ञानी का यह स्पष्ट ध्यान है कि किसी भी अन्य पदार्थ से मेरे में परिणमन नहीं होता है और स्वभावत: क्षमाशील ज्ञानानन्द रसमय अपने आत्मतत्त्व में ही तृप्त रहा करता है। यों यह प्राणी क्रोधकषाय को क्षमापरिणमन से जीतता है।

मार्दव परिणाम से मानकषाय की विजय- मानकषाय को ज्ञानी मार्दव परिणाम से जीतता है। मानी पुरुष को लोग कहा करते हैं कि यह बड़े कड़े दिल का है, यह बड़ा कठोर आदमी है। यह कठोर परिणाम मार्दवभाव से ही दूर हो सकता है। मार्दव का अर्थ है कोमलता। परिणामों में नम्रता आना, सो मार्दवभाव है दूसरों का आदरभाव रखना, दूसरों से अपने आपको बड़ा न मानना, दूसरा भी बड़ा है, खुद भी बड़े हैं, इस चेतन का जो शुद्धस्वरूप है, ज्ञानानन्दस्वभाव है, उस रूप ही निरखना, सब जीवों के साथ समानता का भाव रखना- ऐसी मित्रता को नम्रता कहते हैं। नम्रता से इस मानकषाय को जीतो।

क्रोध और मान की द्वेषरूपता- ये क्रोध और मान दोनों द्वेष कहलाते हैं। क्रोध में आकर यह प्राणी अनर्थ करता है और दूसरे को भी बरबाद करता है। क्रोध में आकर यह जीव दूसरे जीव पर भी वार करता है, लेकिन इस वार के कारण खुद तकलीफ पाता है। जैसे कोई किसी को क्रोध में आकर किसी चीज से या चाकू आदि से प्रहार कर दे तो प्रहार तो कर देता है, पर उसके फल में वह तुरन्त गिरफ्तार होता है और उसे सजा हो जाती है, दु:ख भोगना पड़ता है, पर क्रोध के समय उसकी यह बुद्धि थी कि मैंने अपने हित के विरोधी का विनाश कर दिया है, अब मैं निष्कंटक बन गया हूं, पर कंटक उस पर बड़ा विकट अन्य अन्य आ जाता है।

क्रोध से स्वकार्यहानि- एक ऐसी कथा सुनी जाती है कि साधक योगी नायक महादेव ने क्रोध में आकर कामदेव को भस्म कर दिया था और कामदेव को भस्म करके उस भस्म को अपने शरीर पर लपेट लिया था। उस पर कवि की यह कल्पना हो सकती है कि काम नाम है दुर्भावना का। विषयभोग मैथुन प्रसंग करने की जो चित्त में वांछा रहती है और उस वांछा की पूर्ति का जो उद्यम रहता है, वह सब कामविकार कहलाता है, उसका ही नाम कामदेव है। काम तो अपने चित्त में रहा करता है। इसका नाम मनोज है, यह मन से प्रकट होता है। तो यह काम मनोज है, मन से प्रकट होता है, इस बात को तो न जाना और बाहर में किसी को यह कामदेव है- ऐसी बुद्धि करके उसे जला दिया। जला दिया इसलिये कि निर्भयता आ जावे, अब स्वतन्त्र हो गये, अब उस कामशत्रु का भय नहीं रहा, उस पर विजय कर ली- ऐसी स्वच्छन्दता में फिर काम-विह्वलता की दशा उत्पन्न हो गई। विवाह किया, पार्वती का पाणिग्रहण किया तो फिर पीछे एक सांसारिक दशा प्रकट हो गयी। क्रोध करने से ऐसी प्रवृत्ति हो जाती है कि उसके फल में जिस रास्ते को साफ समझ लिया है वह रास्ता और विषम हो जाता है। क्रोध के उदय में किसके कार्य की हानि नहीं होती? वह क्रोधवेष कहलाता है।

मानकषाय से विवाद- मान भी द्वेष परिणाम है जिसके मानकषाय प्रकट हुई है वह अपने को बड़ा जानता है, और अपने को बड़ा तब ही मान सकता है जब दूसरों को तुच्छ मानेगा। जहां दूसरों को तुच्छ मानने की बुद्धि हुई, वहीं तो क्लेश होगा। द्वेष-भाव में ही मानकषाय उदित होता है। मानकषाय से भी इस जीव को बड़ी बरबादी होती है। मानकषाय के विषय में बहुत प्रसिद्ध उदाहरण एक बाहुबली का प्रसिद्ध है, यद्यपि बाहुबली स्वामी-परमतपस्वी थे और वे सर्वप्रथम इस युग में मोक्ष पधारे, किन्तु उनकी दीक्षा का योग किस कारण से मिला था, उस कारण पर यदि विचार करें तो मानकषाय का रूपक समझ में आयेगा। भरत चक्रवर्ती दिग्विजय करके जब अपने नगर में प्रवेश करने लगे तो चक्ररत्न नगर में प्रवेश न कर सका। यह कायदा है कि क्षेत्र के छहों खण्डों पर विजय प्राप्त न की जा सके तो चक्ररत्न नगर में नहीं प्रवेश करता है, तब सोचा गया कि कौनसा राजा और जीतने के लिए शेष रह गया है, विदित हुआ कि अभी बाहुबली चक्रवर्ती शरण में नहीं आया है। भरत और बाहुबली ऋषभदेव भगवान के जब ऋषभदेव गृहस्थावस्था में थे तब के जुदी-जुदी माता के पुत्र थे। भरत ने संदेश भेजा तो बाहुबली ने संदेश को ठुकरा दिया। भाई के नाते से भरत बड़े हैं, पर राज्य के प्रसंग में वह मुझे शरण रखना चाहें तो यह न होगा। उनका युद्ध हुआ। चक्रवर्ती का तो नियोग ही होता है और बाहुबली के मानकषाय प्रकट हुआ। युद्ध किया। भाग्य की बात है कि युद्ध में बाहुबली की सब प्रकार से जीत हुई।

मानकषाय से स्वकार्य हानि और मानविजय से उद्धार- उस जीत के बाद ही उन्हें वैराग्य आया कि धिक्कार है इस राज्य लक्ष्मी को जिसके कारण बड़े भाई का अपमान करना पड़ा है। विरक्त हो गए वह। विरक्त होने के बाद यह प्रसिद्ध है कि बाहुबली के चित्त में फिर से मानकषाय कोई की तरंग उठी कि

ओह ! मैं भरत की भूमि पर तप कर रहा हूं। भरत की भूमि छोड़कर किसी जगह तप करता होता तो विकल्प न होता। उस समय सारा क्षेत्र भरत चक्रवर्ती का था। इस मानकषाय के विकल्प में घोर तपश्चरण करके भी मुक्ति न प्राप्त कर सके थे, किन्तु भरत चक्रवर्ती ने जब आदिनाथ भगवान के सभामण्डप में यह बात जानी कि बाहुबली को इस प्रकार का मान परिणाम दु:ख दे रहा है तो भरत गए, चरणों में नमस्कार किया और कहा- महाराज यह पृथ्वी किसकी हुई है? मेरी नहीं है। यह तो कोरा विकल्प है। उनका विकल्प शान्त हुआ और मोक्ष पधारे। मानकषाय में यह जीव अपना ही बुरा करता है।

मायाकषाय के विजय का अनुरोध- मायाकषाय एक महान् गर्त है जिसमें मिथ्यात्व वासना का घोर अंधकार बना रहता है, जिसमें क्रोध आदिक विषम सर्प बसे रहते हैं, वे लक्ष्य में नहीं आ पाते। मायाचारी पुरुष अपने गुणों का समूल घात कर लेता है। इस मायाकषाय को सरलता के परिणाम से जीतो।

लोभकषाय से अपनी बरबादी- लोभकषाय को परतत्त्व की दृष्टि करके उत्पन्न हुए महान् लाभ की शान्ति से जीतो। लोभकषाय में यह प्राणी अपने आपका अपने आप घात करता है। जंगल में एक सुरागाय होती है जिसकी पूँछ बहुत सुन्दर होती है, जिसके कुछ लोग चमर बनाया करते हैं। वह गाय अपनी पूँछ से बड़ी प्रीति रखती है, कदाचित् कोई शिकारी उस गाय को पकड़ने के लिए दौड़े तो गाय भागती है अपनी जान बचाने के लिए और किसी जगह किसी बेल में वह पूँछ उलझ जाय तो चूँकि उसे अपनी पूँछ की सुन्दरता पर बड़ा लोभ है तो यह पूँछ बिगड़ न जाय, इस लोभ के कारण वही खड़ी रहती है। यदि वह दौड़कर चल दे तो उसकी जान बच जाय, पर शिकारी आता है और उसे पकड़ लेता है। यों लोभ में सभी पुरुष अपना विघात कर डालते हैं। कुन्द-कुन्द प्रभु का यह उपदेश है आत्मकल्याण के लिए कि क्रोधकषाय को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया को आर्जव से और लोभकषाय को शुचि परिणाम से जीतो।

गाथा 116

उक्किट्टो जो बोहो णाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं।

जो धरइ मुणी णिच्चं पायच्छित्तं हवे तस्स ।।116।।

ज्ञानस्वभाव की स्वीकारता में निश्चयप्रायश्चित- अनन्त धर्मात्मक अपने आपका जो उत्कृष्ट बोध है अथवा ज्ञान है, उसको जो मुनि नित्य धारण करता है, उसके प्रायश्चित्त होता है। जो अपने आपके स्वरूप को शुद्ध ज्ञानरूप से स्वीकार करता है, उसके प्रायश्चित्त होता है। प्रत्येक जीव अपने को किसी न किसी रूप से स्वीकार कर रहा है। स्वीकार का अर्थ है स्व बना देना। 'स्वं इव करोति इति स्वीकर्ता, स्वीकरणं स्वीकार:।' जो स्व की तरह कर दे, उसे स्वीकर्ता कहते हैं, स्व की तरह करने को स्वीकार कहते हैं। प्रत्येक जीव अपने को कुछ न कुछ स्वीकार कर ही रहे हैं। कोई अपने को परिवार वाला, कोई धनी, कोई नेता, कोई साधु, कोई गृहस्थ- अनेक प्रकार से अपने को स्वीकार कर रहे हैं, किंतु एक उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप की स्वीकारता के बिना जितनी भी स्वीकारताएँ हो रही हैं, वे सब अपराध हैं। अपराध का फल नियम से भोगना पड़ेगा। अपना ज्ञान इतना निर्मल होना चाहिये कि अपराध न बन सकें।

मोह में आत्महानि- मोही जीव कल्पनाएँ करके मौज मानते हैं- मेरे ऐसा परिवार है, इतना धन है, ऐसी इज्जत है, इतना बड़ा सुख है। अरे, कहां सुख है? कल्पना में, रागद्वेष की तर्कणावों में तो निरन्तर डूब रहा है। चैन कहां है? किंतु ज्ञानस्वभाव से चिगकर बाह्यपदार्थों में कहीं भी भटकने से यहां चैन कभी हो ही नहीं सकती है। एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप अपने को अनुभवना- यह तो है अपराधरहित शुद्ध धर्म और

अपने को किसी भी पर्यायरूप, किसी भी परसंगरूप मानना- यह है अपराध, अपने आपके प्रभु पर अन्याय। यह मोही अपने आप पर ही अन्याय करता हुआ भटक रहा है। अन्तरंग के नेत्र खोलकर अन्तरंग से निहारो। किसी भी स्त्री, पुत्रादिक से कुछ सम्बन्ध भी है क्या? यों तो निद्रा में स्वप्न आये तो उस स्वप्न में भी सम्बन्ध मान लिया जाता है। जैसे स्वप्न में देखा हुआ सम्बन्ध, सम्बन्ध नहीं है, केवल कल्पना ही है, इसी प्रकार मोह की कल्पना में माना हुआ सम्बन्ध, सम्बन्ध नहीं है, यह भी कोरी कल्पना ही है। इस व्यर्थ की कल्पना का दु:ख कौन भोगेगा? मनमानी कल्पनाएँ बढ़ाते जाने में कौनसा लाभ है? इन सब अपराधों का प्रायश्चित्त केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूपमात्र मैं हूं- ऐसा स्वीकार करना, ऐसा उपयोग बनाना, यह ही प्रायश्चित्त है। इसी उपयोग परिणमन का नाम परमबोध है।

यथार्थसूझ में शांतिमार्ग का लाभ- भैया ! जिसे उल्टा सूझे और चाहे कितना ही ज्यादा निरखता जाये, उसे दुर्गति ही मिलेगी। जिसे चाहे कम सूझे, किंतु सीधा यथार्थ सूझे तो उसका कल्याण हो सकता है। एक आत्मा के ज्ञान को छोड़कर अन्य वैज्ञानिक के कामों का अधिक परिज्ञान हो जाए तो वह भी शांति और मुक्ति का मार्ग नहीं है। थोड़ा भी जिसे सूझे, किंतु अपना ज्ञानस्वभाव सूझे और शान्तिसमता से रहने की बुद्धि जगे तो उसे शान्ति और मुक्ति का मार्ग मिल सकता है।

यथार्थसूझ में लाभ का एक दृष्टान्त- एक बुढ़िया के दो बालक थ। एक बड़ा और एक छोटा। दोनों की आंखों में कुछ विकार था। छोटे को कम दिखता था, किंतु सफेद हो तो सफेद, पीला हो तो पीला अर्थात जैसा का तैसा यथार्थ दिखता था और बड़े को दिखता अधिक था, पर सब कुछ पीला दिखता था। दोनों लड़कों को यह बुढ़िया किसी वैद्य के पास ले गई। वैद्य ने उन दोनों लडकों का एक ही इलाज करना उचित समझा और एकसी दोनों को दवा दी। कोई सफेद मोती भस्म सी दवा लेकर वैद्य कहता है कि देखो मां, यह दवा चाँदी के गिलास में गाय के दूध में दोनों लड़कों को दे देना। दोनों का एक ही इलाज है। इससे दोनों की आंखें ठीक हो जायेंगी। लड़कों ने भी सुन लिया। घर पर जब बुढ़िया पीलिया रोग वाले को दवा देने लगी तो लड़का बोलता है कि मां, मैं ही तुम्हारा दुश्मन हुआ। इस पीतल के गिलास में गाय के मूत्र में यह हरताल डालकर मुझे पिला रही हो। उसे तो सब कुछ पीला ही दिखता था। और जो कम देखने वाला था, जिस यथार्थ दिखता था, उसने समझ लिया कि ठीक दवा दे रही है मां, तो उसने उस दवा को पी लिया। अब कम दिखने वाले का तो इलाज ठीक हुआ और जिसे अधिक दिखता था, उसका इलाज न हो सका।

यथार्थ सूझ और लाभ का विवरण- ऐसे ही मनुष्यों में जिन्हें बहुत अधिक तेज विद्या आती है, जो कई भाषाएं जानते हैं, कई प्रयोग भी किए है, इंजीनियर भी हो गये हैं, ऊँचे-ऊँचे अनुसन्धानों के नायक बने हुए हैं, लेकिन परवस्तुविषयक जिनकी दृष्टि निरन्तर बनी रहती है, उन लोगों को शान्ति और मुक्ति का मार्ग नहीं मिल पाता है। आत्मा में जो आकुलता की बीमारी लगी है, वह बीमारी दूर नहीं हो पाती। यों यह बड़े तेज ज्ञान में बढकर भी विपरीत ज्ञानी होने के कारण रोगी ही रहता है और दूसरा कोई पुरुष जो लौकिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक अनेक विद्यावों को नहीं जानता है, किंतु परमविश्राम और समाधि के उपाय द्वारा सहज ही जिन्हें आत्मा के यथार्थस्वरूप का दर्शन हुआ है, वे एक अपने आपके ज्ञानबल से शांति प्राप्त करते हैं और मुक्तिपथ में बढ़ते हैं

भ्रम में शान्तिमार्ग का अनवसर- भैया ! कितना ही कुछ हो जाए, किंतु जीव को शांति मिल सकेगी तो एक भेदविज्ञान के द्वारा ही मिल सकेगी। परपदार्थ की दृष्टि लगाकर शान्ति मिलने का कोई उपाय ही नहीं है। पर तो पर ही है, भिन्न है, चतुष्टय न्यारा-न्यारा है, न पर का मुझ में द्रव्य है, न पर का प्रदेश है, न

पर की शक्ति है, न पर का परिणमन है। प्रत्येक पदार्थ अत्यन्त स्वतन्त्र है। अब हम किसी परपदार्थ को भला मानें, सुखदायी मानें और उससे अपना बड़प्पन समझें तो कैसा पूरा पड़ सकता है? हम सोच रहे हैं मेरा, वह मेरा है नहीं। हम सोच रहे हैं कि यह परपदार्थ हित उत्पन्न करेगा और वह परपदार्थ केवल अपना परिणमन ही कर पा रहा है, अपने से बाहर कहीं कुछ परिणति ही नहीं कर पाता। फिर कैसे हित हो? हम मानते हैं पर के संग से बड़प्पन, किन्तु पर के संग से हमारे में बड़प्पन अथवा उत्कर्ष होता ही नहीं हैं, परपदार्थ पर हैं, जहाँ हैं तहाँ हैं। उनके संग से बड़प्पन होने की पद्धति है कहाँ, और मानता है यह पर से बड़प्पन, होता है नहीं, तब क्लेश ही पाता है।

मोह में विषयविष की रुचि- इस मायामयी दुनिया में मायामय पुरुष मायामय रूपों को देखकर मायामय कल्पनावों की रचना किया करते हैं, पर सारभूत बात यहाँ कुछ नहीं है। परमार्थस्वरूप के ज्ञान में जो प्रकाश है, आनन्द है वह प्रकाश और आनन्द अन्य बात में है ही नहीं। इस संसार से मुक्त हो सकने वाले बिरले ही हो सकते हैं। तत्त्व की बात बिरले ही ज्ञानी पुरुष में समाती है। सब कैसे ज्ञानमय हो जायें? कर्मों के प्रेरे हैं, उन्हें वही रुचता है विषय-विष। वे अमृत को पीने का साहस ही नहीं कर पाते हैं।

मोह की विडम्बना पर एक दृष्टान्त- जैसे कोई भिखारी 5-7 दिन की बासी रोटियाँ अपने झोले में रखे हुए रोटियाँ मांग रहा है, कोई दयावान् उस भिखारी से यह कहे कि अरे ! तू इन बासी रोटियों को फेंक दे, मैं तुझे ताजी पुड़ियाँ दूँगा, पर उसे विश्वास नहीं होता है। वह सोचता है कि बड़ी कठिनाई से कमाई हुई रोटियाँ हैं। यदि इनको फेंक दे और कुछ न मिले तो गुजारा कैसे चलेगा? ऐसे ही ये परपदार्थ के भिखारीमोही प्राणी कितना चेतन और अचेतन परिग्रह का संचय किए हुए हैं, इन्द्रिय के भोग-उपभोग के कितने साधन अपने उपयोग की थैली में भरे हुए हैं? इन मोही भिखारी पुरुषों को आचार्यदेव बार-बार समझाते हैं कि तू इन जूठे पुराने भोग साधनों को त्याग दे, तुझे अद्‌भूत आनन्द प्राप्त होगा, पर यह मोही, इसको कल्पना में नहीं आता कि मैं इन असार भिन्न परिग्रहों को छोड़ दूँ और परमविश्राम से रहूं, निज सत्य आत्मीय आनन्द की परीक्षा करूँ, देखूँ, ऐसी कल्पना ही नहीं जगती है।

धर्मी के धर्म की स्वीकारता- अज्ञानी तो सोचते हैं कि धर्म की बातें तो कहने-सुनने की हैं, एक पद्धति है धर्मपालन की, पर धर्मपालन में मिलता क्या है, रखा क्या है, और यहाँ परिवार में, धन-वैभव में, इज्जत में यहां सब कुछ मिलता है। आचार्यदेव कहते हैं कि यह सब तुम्हारी भूल है। मोहनींद के ये सब स्वप्न हैं, इनके ही वश होकर इस जगत् में भटकना बना रहता है। यदि सर्वसंकटों को मिटाना है तो एक ही उपाय है, अपने को शुद्ध ज्ञानरूप स्वीकार कर लो। यही इस धर्मी आत्मा का प्रायश्चित्त है। प्राय: मायने प्रकर्षरूप से, चित्त मायने ज्ञान। अज्ञान के अपराध को दूर करने के लिए प्रायश्चित्त ही समर्थ है अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञान ही समर्थ है। प्रायश्चित्त का अर्थ उत्कृष्ट ज्ञान है।

प्रायश्चित्त का अर्थ उत्कृष्ट ज्ञान- भैया ! पछतावा प्रायश्चित्त नहीं कहलाता है, क्योंकि पछतावा में विभाव परिणति बस रही है, पछतावा का नाम प्रायश्चित्त नहीं है। यद्यपि अपराध के करने पर ज्ञानी पुरुष को पछतावा होता है और उस पछतावा का उपाय करके फिर आगे ज्ञानपथ में बढ़ता है, पर पछतावा स्वयं उन्नति का मार्ग नहीं है, यह सहायक तो है पर उन्नति का साक्षात् मार्ग उत्कृष्ट ज्ञान है। प्राय: मायने उत्कृष्ट, चित्त मायने ज्ञान। उत्कृष्ट बोध ही मुनि का प्रायश्चित्त है। इस उत्कृष्ट ज्ञान को जो मुनि अपने उपयोग में धारण करता है उसके ही वास्तव में शुद्धनय प्रायश्चित्त होता है।

उत्कृष्ट ज्ञान का स्वरूप- वह उत्कृष्ट ज्ञान क्या है जिसके आश्रय से संकट दूर होते हैं? ये रागद्वेष विभाव तो ज्ञान हैं ही नहीं। ये तो विभाव परिणतियाँ हैं, अचेतन हैं, इनमें चेतने की सामर्थ्य नहीं है, अचेतन गुण की परिणति है, अचेतन में है, पर रागद्वेष का प्रवाह जिन गुणों में हुआ है वह गुण स्वयं अचेतक है। रागद्वेष परम बोध नहीं है और जो हम आप जाना करते हैं यह चौकी है, यह मंदिर है, यह घर है, यह वैभव है, यह ज्ञान भी उत्कृष्ट बोध नहीं है, यह ज्ञान मायारूप है, मायारूप का ज्ञान हो रहा है। जिनको भी इन इन्द्रियों द्वारा जाना जा रहा है वे सब मायास्वरूप है, परमार्थ द्रव्य नहीं हैं, जो दिख रहे हैं, ये सब स्कंध हैं, अनन्त परमाणुवों से मिलकर बने हुए हैं। परमाणु बिखर गए कि स्कंध का ढांचा मिट जायेगा। इन स्कंधों में कुछ आता है, कुछ जाता है और इस आवागमन के कारण जीव को ये नित्य से प्रतीत हो रहे हैं, पर ये सब मायास्वरूप हैं, परमार्थभूत तो इन पुद्गलों में परमाणु हैं। परमाणु का ज्ञान करें तो समझो परमार्थ का ज्ञान किया है। बाह्य में स्कंधों का ज्ञान मायारूप का ज्ञान कहलाता है।

ज्ञान में उत्कृष्ट ज्ञान- ऐसे ही आत्मा के बारे में जो ये संसारी प्राणी जानकारी रखते हैं, इन सब मायारूप पर्यायों को आत्मा जानकर प्रवृत्ति करते हैं उनको जीव आत्मा समझकर व्यवहार बनाता है, पर यह आत्मा नहीं है, आत्मा तो अमूर्त है, वह इन्द्रिय और मन के भी विषय में नहीं आता है। यह हमारा जो कुछ चल रहा हुआ ज्ञान है यह भी परमबोध नहीं है, यह भी अपराध है।

अपराध में चतुराई की मान्यता- संसारी प्राणी अपराध को करते हुए अपनी चतुराई मानते हैं। मुझमें बड़ी कला है, मैं घर की अच्छी व्यवस्था बना लेता हूं, मैं काफी पैसा कमा लेता हूं। अरे ! अपराध को करते हुए अपनी शान मानना यह तो अशान्ति का ही मार्ग है, उद्धार का मार्ग नहीं है। इन सब परिस्थितियों में रहकर मानना तो चाहिए था खेद कि मैं क्यों इन परपदार्थों में फँस रहा हूं, ये परद्रव्य कुछ भी मेरे साथ न जा सकेंगे, इसका विषाद मानना था, पर यह मोही प्राणी परपदार्थ का उपयोग कर करके चतुराई समझ रहे हैं।

परमबोध प्रायश्चित्त- भैया ! वास्तविक चतुराई तो परमबोध में है, इन सब ज्ञान प्रवृत्तियों का स्रोतभूत जो शुद्ध ज्ञानस्वभाव है, चैतन्यशक्ति है, वह ज्ञानस्वभाव ही उत्कृष्ट बोध है, उसका उपयोग ही वास्तविक प्रायश्चित्त है, जो परमसंयमी साधु निरन्तर ऐसा ही चित्त बनाते है। अर्थात् ज्ञान किया करते हैं उन साधुवों के निश्चय प्रायश्चित्त होता है। आत्मा एक धर्मी पदार्थ है, धर्मस्वरूप है, स्वयं धर्मात्मा है, और इस आत्मा का जो परमज्ञानस्वभाव है वह इस आत्मा का उत्कृष्ट धर्म है। आत्मस्वभाव से ही आत्मा में प्रायश्चित्त बना हुआ है अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञानस्वभाव सहज ही शाश्वत प्रकाशमान् रहता है, ऐसे ही प्रायश्चित्त का परम उत्कृष्ट बोध जो संयमी पुरुष श्रद्धा में लाते हैं और इस ही प्रायश्चितरूप आत्मा के परमस्वभाव में लीन रहते हैं उन मुनिजनों के ही शुद्धनय प्रायश्चित्त होता रहता है। जो योगिराज शुद्ध आत्मतत्त्व की, ज्ञानमय पदार्थ की यथार्थ भावना करते हैं, इस शुद्ध ज्ञानस्वरूप का सम्यक् श्रद्धान, इसका ही सम्यक् परिज्ञान और इसमें ही सम्यक् रूप से अनुष्ठान करते हैं जो साधु, उनके स्वभावत: शुद्धनय प्रायश्चित्त होता है।

वन्दनीय योगिराज- जिसने पापों को नष्ट कर दिया है, जिसका ज्ञान सदा निर्मल, जागरूक रहता है ऐसे योगिराज जिनकी धुन केवल परमात्मा की शुद्ध भक्ति में रहती है ऐसे योगीन्द्र सबके निरपेक्ष बंधु हैं। संसारी जीव का उद्धार इन गुरुवों के प्रसाद से ही हो सकता है। शुद्ध स्वरूप के परिज्ञान के समान लोक में कुछ वैभव नहीं है। केवल यही एक पुरुषार्थ ही सत्य वैभव है। जो पुरुष इस ज्ञानस्वभाव के ज्ञान में बर्तता है वह योगिराज है, ऐसे योगिराज की उपासना में, सेवा में जो पुरुष रहा करते हैं वे धन्य हैं। उन

योगिराजों में जो गुण-विकास हुआ है उन गुण विकासों की प्राप्ति के ध्येय से मैं उन योगिराजों को वंदन करता हूं।

गाथा 117

किं बहुणा भणियेण हु वरतवचरणं महेसिणं सव्वं।

पायच्छित्तं जाणह अणेयकम्माण खयहेऊ ।।117।।

अपराधों का प्रायश्चित्त सदाचरण- बहुत कहने से क्या फायदा? अनेक प्रकार के कर्मों के विनाश का कारण जितना जो कुछ भी ऋषिजनों का उत्तम तपश्चरण है वह सब प्रायश्चित्त ही जानो। प्रायश्चित्त मायने हैं अपराध का शोधन अथवा उत्कृष्ट ज्ञान का उपयोग। इसकी सिद्धि में जितने भी आचरण हैं, व्रत करना, तप करना, ये सब प्रायश्चित्त कहलाते हैं। जो परम तपस्या में लीन हैं, ऐसे परम जिनेन्द्र योगीश्वरों का यह निश्चयप्रायश्चित है। जितने भी आचरण हैं उन सब आचरणों में परम आचरण यह प्रायश्चित्त ही है। जैसे किसी से बहुत अपराध हो गया हो तो उससे फिर आगे निर्मल होने के लिए कहा जाता है, अब वह गल्तियाँ न करे तो सब गल्तियाँ माफ हैं।

अपराध का प्रायश्चित्त निरपराधप्रवृत्ति- एक ज्ञानस्वरूप के उपयोग को छोड़कर शेष जितने भी विपरिणमन हैं वे सब अपराध हैं, संसरण की गलतियाँ हैं। जितनी भी गलतियाँ हुई हैं वे सब न होने की तरह कैसे हो जायें? अब उन्हें न किया जाय और अब मोहममता को मिटाकर एक निज ज्ञानस्वरूप की ओर झुके तो वे सब अपराध माफ हो जायेंगे, अर्थात् अब संसार में भ्रमण न होगा, जो बात गयी वह तो गयी ही है, अब आगे की रख ली जाय तो यही ज्ञानियों का परमविवेक है।

ज्ञानस्वभाव की सहजज्ञानकलागोचरता- निश्चय व्यवहारस्वरूप जो परम तपश्चरण है वह सब शुद्धनय प्रायश्चित्त है। जो परमयोगीश्वर हैं वे इस प्रायश्चित्त के बल से भव-भव के बांधे हुए समस्त कर्मों का विनाश कर लेते हैं, यों द्रव्यकर्म और भावकर्म के रूप से जो दो प्रकार के कर्म बतायें गए हैं ये जीव के साथ अनादिकाल से बँधे हैं। बँधे हैं, फिर भी ये दोनों जीव के स्वरूप से अलग हैं। इस ही कारण इन कर्मों का विनाश किया जाना सम्भव है। यह अन्तस्तत्त्व जो पदार्थ के सत्त्व के कारण पदार्थ में सहज ही अपने आप प्रकाशमान् रहता है, ऐसा यह आत्मा का अन्तस्तत्त्व समस्त पापों के विनाश का कारण है। संसारी जीव भी शान्ति चाहते हैं, उस शान्ति के मिलने का कारण निष्पाप परिणति हैं। कोई पाप की परिणति करे और शान्ति की आशा रखे, यह बात सम्भव नहीं है। यह सहज अंतस्तत्त्व सहजज्ञान की कला से ही जाना जा सकता है। हम आत्मा के ज्ञानस्वभाव को अक्षरों को पढ़ करके अथवा उसके पद्यों को रट कर नहीं जान सकते हैं, किन्तु परपदार्थ के विकल्पों से रहित होकर अब हम शुद्ध विश्राम करें तो उस विश्राम की स्थिति में यह तत्त्व सहज ही प्रकट हो सकता है, यह सहज ज्ञान की कला से ही प्रकट हुआ करता है।

निश्चय संयम में प्रायश्चित्त की पूर्णता- भैया ! जो इस चैतन्यस्वरूप को जानने वाले हैं उन्हें जो अपूर्व शान्ति मिलती है वह शान्ति तीन लोक का समस्त पुद्‌गलों का ढेर भी इकट्ठा हो जाय तो भी नहीं मिल सकती है। पापी लोग पाप करके भी पापों का पछतावा नहीं करते हैं, जब से पापों के प्रायश्चित्त का परिणाम होने लगे तब से उन्नति का प्रारम्भ जानना चाहिए। यह प्रायश्चित्त प्रारम्भ में पछतावा का रूप रखता है। पछतावा में कुछ साहस बढ़ता है, अपराध न करने का संकल्प ठानता है और फिर अपराधरहित

आत्मतत्त्व का निर्णय करके उन अपराधों को नहीं करता है। इस तरह जितनी भी इस जीव की उन्नति है वह सब प्रायश्चित्त के आधार पर है। आत्मा का ज्ञान ही वास्तविक प्रायश्चित्त है। सम्यग्ज्ञान से संयमी जीवों को आत्मा की उपलब्धि होती है, बाह्य पदार्थों में मोह करके, ममता करके उपयोग को भटकना होता है और भटकता हुआ उपयोग कभी आनन्दमय शुद्धज्ञानस्वरूप की झलक पा नहीं सकता है। सम्यग्ज्ञान से ही संयमी पुरुष को आत्मा की प्राप्ति होती है, फिर वे क्रम से इन्द्रिय का विजय करके, इन्द्रिय विषयों से उपयोग को हटाकर संसार की ज्वालावों से बचते हैं।

विषयाशाज्वालावों का शमन- इस जीव में अज्ञान से विषयों की लिप्सा बढ़ रही है। कोई स्पर्शन इन्द्रिय के विषय को सुखदायी मानकर उसमें ही आसक्त है, कोई रसना इन्द्रिय के लोभ मेंस्वादिष्ट सुन्दर व्यन्जनों को खा करकेमौजमानते हैं,कोई तेल,फुलेले, इत्रों के सूंघने मेंअपनी बड़ी चतुराई मानते हैं,कोईथियेटर, सिनेमा, सुन्दररूप इनके देखने का बड़ा लोभी है, कोई संगीत, सुहावने गाने सुनने का बड़ा शौक लगाये हैं, यों विषयों की ज्वाला इस संसारी प्राणी को जला रही है। इस ज्वाला को शान्त करने में समर्थ सम्यग्ज्ञान की शीतल धारावों का समूह ही है। सम्यग्ज्ञान जल से विषयों की ज्वाला बुझायें और निर्विकल्प होकर अपने सहज कारणसमयसार की आराधना में लगें। अपने को ज्ञानमात्र हूं ऐसा अनुभव करें तो इस ज्ञान की शीतल धारा से आत्मा की ये समस्त ज्वालाएँ शान्त हो सकती हैं।

भोगविषहारी मंत्र तत्त्वज्ञान- यह ज्ञान संयम से प्रकट होता है। इस मन के आधीन होकर मनमाना स्वच्छन्दता न बर्तना चाहिए और इन्द्रियविषयों पर विजय पाकर अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूप की उपासना में रहना चाहिए। गुजारे के लिए भले ही कुछ इन्द्रियविषय का उपयोग करना पड़े, परन्तु इन भोगों में हितबुद्धि नहीं करनी चाहिये। ये भोग बुरे रोग हैं सर्प का डसा तो एक ही भव में मरण करता है, पर भोगों का डसा यह जीव भव-भव में जन्म-मरण करता है, उसका संसार बढ़ता रहता है। यह संयम रत्नमाला जो ज्वालावों से विषयबाधावों को जलाने में समर्थ है, अध्यात्म शास्त्र की उपासना से उठता है, निकलता है, यह अध्यात्म शास्त्र उस अमृत-तत्त्व का उत्पादन करता है जिसकी उपासना से नियम से शान्ति और सन्तोष प्राप्त होता है। ऐसे संयमी जीवों को आत्मज्ञान से आत्मा की प्राप्ति होती है और आत्मप्राप्ति से ज्ञानज्योति के द्वारा इन्द्रियसमूह का जो घोर अन्धकार छाया है वह नष्ट हो जाता है।

अज्ञानान्धकारविनाशक प्रकाश- संसार के ये प्राणी अंधेरे में हैं। इन पर अँधेरा अज्ञान का छाया है। जो बात जैसी नहीं है उस बात को वैसी मानना यह अँधेरा है। इस अंधेरे में शान्ति का सही रास्ता नहीं सूझता है। जहाँ भी मुँह उठ गया वही इसको रास्ता मालूम होता है। जिसको जिस विषय का शौक लग गया वह उस विषय के भोगों में ही अपनी चतुराई मानता है। उस समस्त अंधेरे का विनाश शुद्धनय प्रायश्चित्त से होता है। यह प्रायश्चित्त आत्मद्रव्य के चिंतन में प्रकट होता है। यह प्रायश्चित्त क्या है? ज्ञानरूपी तेज है, किसी भी अपराध को ठहरने नहीं देता। अपराध है रागद्वेष मोह। इस अपराध से इस जीव का कुछ भला नहीं है किन्तु बरबादी ही होती जा रही है। कैसी मूढ़ता है कि संसार के इन अनन्त जीवों में से घर में बसे हुए दो-चार प्राणियों को अपना मान लेते हैं और उन्हें अपना मानकर उनके लिए ही अपना तन, मन, धन, वचन, सब कुछ न्यौछावर किए जा रहे हैं। आत्मा के शुद्ध स्वरूप से चिगकर किन्हीं भी परजीवों में आकर्षण करना, मोह करना यह घोर अंधकार है। इस घोर अंधकार को, इस अपराध को दूर करने में समर्थ यह उत्कृष्ट ज्ञानरूपी प्रायश्चित्त है।

अध्यात्मरत्नमाला- देखो भैया ! ऋषि-संतों ने इस अध्यात्मज्ञान समुद्र से आत्मसंयम की, आत्मअनुभव की रत्नमाला निकाली है। लोक में यह प्रसिद्ध है कि समुद्र में से ये मालारत्न भी प्रकट हुआ है। वह माला ज्ञान की है और उस अध्यात्म शास्त्ररूपी समुद्र से निकली है ज्ञानमाला। जो तत्त्वज्ञानी पुरुष अपने उपयोगरूपी कंठ में इसे धारण करते हैं वे पुरुष मुक्ति के वरण के पात्र होते हैं। शुद्धनय प्रायश्चित्त अधिकार में इस परमपारिणामिक भाव पर दृष्टि पहुंचायी है, जिस ध्रुव स्वभाव के अवलम्बन से ये विपरीत वृत्तियां दूर होती हैं और शुद्ध वृत्तियां प्रकट होने लगती हैं।

मिथ्यात्व महासंकट- मिथ्यात्व सबसे महति विपदा है। इस मिथ्यात्व की वर्तना कितने ही रूपों में प्रकट होती है। जिस शरीर को आपा माना 'यह मैं हूं' यह मिथ्यात्व का व्यक्तरूप है। अज्ञानी पुरुष यह ही जानते हैं कि यह शरीर है किन्तु यह समझते हैं कि यह ही मैं हूं। लोक-व्यवहार के नाते कदाचित् शरीर शब्द को बोल दें तो भी यह शरीर है, मैं जीव हूं, शरीर से न्यारा हूं, ऐसा भाव रखकर नहीं बोलते हैं, किन्तु लोकपद्धति में बोल लेते हैं और कभी ये जीव आगे बढ़ने की कोशिश करे और विवेकियों के उपदेश के अनुसार यह अज्ञानी भी यों बोलने लगे कि यह शरीर न्यारा है, जीव न्यारा है, इतना बोलकर भी शरीर से न्यारा जीव जो ज्ञानस्वरूप है, उसका इसे अनुभव नहीं हो पाता है। तो इस बोलने और सुनने में ही अपनी चतुराई की प्रतीति करके जो आत्मा में विकल्प और कल्पना की कला प्रकट होती है उस विकल्पकला को ही यह आत्मा सर्वस्व मानता है। अहो ! भेदविज्ञान की वार्ता भी विकल्पों को अपनाने के लिए की जा रही है, पर विकल्पों से हटकर सकल परभावों से भिन्न ज्ञानपुंज जो आत्मा का सहजस्वरूप है उसके अनुभव का ध्यान नहीं है।

संकटहारी शरण- अब मैं अपने आपमें शाश्वत प्रकाशमान् इस परमात्मतत्त्व की शरण पहुंचता हूं जिसकी शरण पाने से फिर संसार के संकट नहीं रहते हैं। संसार के संकट क्या हैं? अपनी मूढ़ता है। अपना जैसा सहजस्वरूप है उस स्वरूप के अनुभवरूपी अमृत का पान नहीं करना चाहता है और व्यर्थ ही बाह्य पदार्थों में ऐसा विश्वास लगाकर यह जीव संकट सहता रहता है। बड़े-बड़े चक्रवर्ती तीर्थंकर जैसे महापुरुष भी बड़ी-बड़ी विभूतियों को त्यागकर निर्ग्रन्थ दिगम्बर शरीरमात्र ही रहकर अपने चित्त में इस ही परमब्रह्म कारणसमयसार को बसाते रहे हैं। यदि संसार संकटों से सदा के लिए छूटना है तो इस आनन्द का अनुभव करें। जिसने संसार-वृक्ष के मूल का नाश किया है, ऐसे इस परमात्मतत्त्व को मैं नित्य नमन करता हूं।

गाथा 118

णंताणंतभवेण समज्जि असुहअसुहकम्मसंदोहो।

तवचरणेण विणस्सदि पायच्छित्त तवं तम्हा ।।118।।

अनन्तानन्तभवों द्वारा जो शुभ-अशुभ कर्म उत्पन्न किये हैं वे सब तपश्चरण से विनष्ठ होते हैं इस कारण तप ही वास्तव में सकल अपराधों का प्रायश्चित्त है।

चैतन्यप्रतपन बिना जन्म-मरण का तांता- अब से पहिले यह जीव किसी न किसी पर्याय में था, क्योंकि पहिले यदि यह शुद्ध होता तो आज यह अशुद्ध हो ही नहीं सकता था। जैसे आज मनुष्यपर्याय में है इसी प्रकार यह जीव पहिले किसी न किसी पर्याय में था और उससे पहिले किसी न किसी पर्याय में था। क्या ऐसी कल्पना की जा सकती है कि इस भव से पहिले इस जीव का कुछ भव ही न हो? यह जीव अनादि काल से भवों को धारण करता चला आया है। अनन्त भव हो गए जिसकी कोई सीमा नहीं कि कितने

शरीर धारण किये जा सकते हैं और उन भवों में जो कुछ समागम मिले थे वे समागम नहीं रहे, सब बिछुड़ गए और आज भी जो कुछ मिले हैं वैभव, कुटुम्ब इत्यादि के समागम वे सब भी हमारे न रहेंगे, इन सबको छोड़कर जाना पड़ेगा। यों भव-भव ही धारण करते चले आये हैं और उन-उन भवों में ये सब समागम मिले हैं उन सब समागमों को छोड़ते आये हैं, लेकिन किसी भी भव में इस जीव ने अपने को अकिन्चन अनुभव नहीं किया है। मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हूं, इस प्रकार की प्रतीति और उपयोग को इस जीव ने नहीं किया, इसी कारण यह जन्म-मरण के चक्र सह रहा है।

अपूर्व अवसर- आज बहुत बड़ा मौका है, श्रेष्ठ मनुष्यजन्म पाया, श्रेष्ठ धर्म पाया, वस्तुस्वरूप की बात सुनने, समझने को मिली है, जो चीज नहीं रहनी है, मायारूप है उसमें दिल फँसाने से कुछ लाभ नहीं है। आत्मकल्याण के उपाय का बहुत बड़ा अवसर है। इस संसार में यदि अपने को निर्लेप न समझ सके, विशुद्ध ज्ञानस्वरूप को प्रतीति में न ला सके तो ये सब समागम बिछुड़ ही जायेंगे, इनसे कोई लाभ न होगा।

विपदाओं का पहाड़- अनन्त भवों से जो शुभ-अशुभ कर्म उपजे हैं वे आज भी हम आपके साथ लगे हुए हैं, उन कर्मों का संस्कार इस पर छाया हुआ है। एक ही भव के कर्म नहीं बल्कि अनगिनते भवों के कर्म इसके साथ लगे हैं। आज से करीब 60-65 कोड़ाकोड़ी सागर पहिले के बँधे हुए कर्म भी आज हो सकते हैं और उन कर्मों का उदय हम आपके चल रहा हो, यह भी संभव है। यहां किस चैन में मौज मान रहे हैं? विपदावों का पहाड़ कितना साथ में लगा हुआ है, इसकी ओर दृष्टि क्यों नहीं देते? आज कुछ यश है, मौज है तो कल का भी कुछ पता है क्या? भले ही मोहवश ऐसी कल्पना बनाएँ कि बिगाड़ किन्हीं दूसरों का हुआ करता है, बिगाड़ हमारा नहीं होता, पर यह कल्पना ही है, दूसरे भी तो हमारी तरह ही जीव हैं। जैसे उन जीवों की बरबादी होती है इसी प्रकार हम भी उन्हीं की तरह हैं ना। अपराध होने पर हम-आपकी भी वैसी ही बरबादी है।

अपराधों का प्रायश्चित्त परमतपश्चरण- भैया सब अपराधों का प्रायश्चित्त परमतपश्चरण है। परमार्थ तपश्चरण तो अपने आत्मा का शुद्ध आचार-विचार रखना, सही उपयोग रखना, रागद्वेष मोह का कलंक न बसाना, यही है परम तपश्चरण और उसकी साधना में सहायक है यह हमारा बाह्य तपश्चरण। भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक न हो, कौन तकलीफ करे, जैसा मिले तैसा खायें, और-और प्रकार भी प्रमाद बनाए रहें, चलने उठने का भी विवेक नहीं, व्यवहार में मायाचार, तृष्णा, क्रोध, मान का फँसाव बना हो, कामवासना की ज्वाला में जले जा रहे हों तो ऐसी प्रवृत्ति से आत्मा का भला नहीं है। इन प्रवृत्तियों को दूर करने के लिए तपश्चरण करना पड़ेगा। तपश्चरण किया जाता है विषय कषायों के अपराधों के परिहार के लिए।

इन्द्रियसंयमन की आवश्यकता- सीमित खाना, शुद्ध खाना आदिक ये जीव को नियंत्रण मालूम होते हैं, कैद मालूम होते हैं, पर नियंत्रण न होने से अंतरंग में इस जीव की बरबादी हो रही है। रौद्र ध्यान से इस आत्मा की कैसी दुर्गति होगी, इसका कुछ ध्यान नहीं है। आज थोडे से भी कष्ट से डरते हैं, पर रौद्र ध्यान के अवताप के नरक गति में था पशु-पक्षियों आदि की गति में जन्म लेना पड़े, महाक्लेश भोगना पड़े इसका कुछ भी भय नहीं है। आज थोड़ा भी परिश्रम करने का भय है, प्रमाद है, कुछ करें मौज से रहना चाहिए। जो मनुष्य इन्द्रिय विषयों के मौजरूप प्रमाद करते हैं उनके निरन्तर अशुभ कर्म का बंध होता है। द्वेष की ज्वाला से भी अधिक राग की ज्वाला होती है। द्वेष में इतना कठिन कर्मबंध न भी हो सके जितना कि राग में आसक्ति में कर्मबंध होता है। उस राग को दूर करने के लिए इन इन्द्रियों को संयत करना

होगा। प्रेम हो, कष्ट हो या मन के अनुकूल बात न मिले, उन सबमें तुष्ट रहने का माद्दा बनाना होगा, समता-परिणाम रखने का साहस करना होगा तब सिद्धि हो सकेगी।

संयम व तपश्चरण के कर्तव्य का स्मरण- संयम में चलें, तपश्चरण में चलें। दुनिया को निरखकर हम अपना निर्णय करें तो उसमें सिद्धि नहीं है। अपने अन्त:करण से और अपने महर्षि सन्तों के उपदेश से हम सलाह लें, दुनिया से अथवा दुनिया की प्रवृत्तियां से हम सलाह न लें, क्योंकि यह संसार अज्ञान-अन्धेरे से भरा है। मोह में जो अंध हैं वे सूलझे हुए मार्ग के विषय में क्या बता सकते हैं? तपश्चरण में रंच न डरना चाहिए, वर्तमान में अपनी जो शक्ति प्रकट हुई है उसके मुताबिक तपस्या में हम प्रयत्नशील रहें। यह शरीर तो रहेगा नहीं, आगम से रखें तो भी नहीं रहने का, तपश्चरण में लगायें तो भी नहीं रहने का, और शरीर न रहे तो यह लाभ की बात है। कभी न मिले शरीर इससे बढ़कर और क्या बात हो सकती है।

शरीरसेवा का प्रयोजन- यह आत्मा ज्ञानानन्द से भरपूर है, ऐसा उत्कृष्ट होकर भी यह आत्मा आज कैसा फँसा है? परेशान है। कहीं यह आत्मा बंधन में पड़ने वाली वस्तु थी क्या? पर शरीर में यों बंध गया कि शरीर को छोड़कर कहीं जा नहीं सकता। इस शरीर के बंध से यह जीव कितना परेशान है? यह शरीर यदि न रहे तो यह तो भलाई की बात है। शरीर को क्या आराम से रखना? अपने संयम के लिए शरीर का श्रम कितना भी हो उससे भय न करना और दूसरों के उपकार के लिए इस शरीर को कितना ही लगाना पड़े उससे भी न हिचकना। इस शरीर को एक सेवक की तरह व्यवहार करना, जैसे सेवक की रक्षा की जाती है निज कार्य के लिए, इसी तरह इस शरीर की रक्षा की जानी चाहिए एक आत्मकार्य के लिए। यद्यपि शरीर से आत्मकार्य नहीं बनता लेकिन शरीर के सम्बन्ध में जब हम आत्मकार्य के विपरीत लग बैठे हैं तो उस विपरीत लगाव से हटने के लिए जो कुछ शरीर का साधन बनाना पड़ता है वह इस परिस्थिति में आवश्यक है।

जीवन के सदुपयोग का अनुरोध- भैया ! शरीर की सेवा तो करें, पर शरीर के लिए शरीर की सेवा न करें। अपना कार्य निकालने के लिए, अपना ज्ञानबल चरित्रबल बराबर बना रहे और विषयकषायों में मन न जाय, ऐसा तपश्चरण बना रहे इसके लिए शरीर की रक्षा करना है। शरीर की रक्षा करनी है, ठीक है, फिर भी अपने प्रयोजन को नहीं भूलना है। जितना भी बन सके शुद्ध आचरण में, शुद्ध खान-पान में, शुद्ध चर्या में अपने को लगाना चाहिए। अपना समय यहां-वहां जो व्यर्थ की गप्पों-सप्पों में व्यतीत होता है वह भला नहीं है। समय बड़ा अमूल्य है। जो गुजर जाता है वह फिर नहीं मिल सकता है। जो वर्तमान समय मिला है उसका सदुपयोग करें। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप की आराधना करें।

तपश्चरण का लाभ- तपश्चरण भी बेकार चीज नहीं है। शरीर का क्लेश भी एक तप बताया गया है, पर शरीर के क्लेश के साथ आत्मा में क्लेश नहीं होना चाहिए। अनशन चल रहा है अथवा रसपरित्याग चल रहा है, शुद्ध भोजन के नियम के कारण रूखा-सूखा ही खाने को मिल रहा है, ये सब आनन्द की बातें हैं, क्लेश की बातें नहीं हैं। दूसरों को दिखता है कि बड़ा क्लेश भोग रहे हैं, पर वहां तो रंच भी क्लेश नहीं है। धर्मपालन के अवसर में जो उपयोग का केन्द्रीकरण होता है उससे आनन्द की तृप्ति रहती है। अत: समस्त तृप्तियों का मूल कारण जो शुद्ध कारण परमात्मतत्त्व है उसमें अपने उपयोग को बसाये रहना है। अन्तर्मुख होकर उस परमात्मतत्त्व में अपना प्रतपन करना है, यही परमतपश्चरण शुद्धनय प्रायश्चित्त है, जो अपराधों को दूर करने में समर्थ है।

संतों के उपदेशों का सार- समस्त देशानावों का सार इतना है कि हम सदा अपने आपको शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभावरूप स्वीकार किया करें, इसमें भूल न होने दें। परिस्थितिवश कुछ भी घटना हो जाय, पर अपने आपकी श्रद्धा में भूल न हो सके, तो भूल की क्षमा भी जल्दी हो जायेगी, परन्तु अपने स्वरूप की यथार्थ श्रद्धा न रखें, उल्टी श्रद्धा करें तो यहाँ उसकी माफी नहीं हो सकती। भैया ! उसके ज्ञान में प्रसिद्ध है वह शुद्ध कारणपरमात्मतत्त्व, जिसने वस्तुस्वरूप का चिंतन किया है, जिसने गहरे पानी में बैठकर खोजा है उसे वह चीज मिली हैं और जो पानी से डरकर बाहर रहा करता है उसे वह तत्त्व नहीं मिलता।

उभय कर्म और उनके विलय का उपाय- यह जीव अनादिकाल से शुभ अशुभ कर्मों का संचय करता चला आया है, वे कर्म द्रव्यरूप और भावरूप हैं। कर्म नाम वास्तव में आत्मा की शुभ-अशुभ क्रियावों का है। क्रियते इति कर्म। जो किए जायें वे कर्म कहलाते हैं। आत्मा के द्वारा मोह, रागद्वेष, विषयकषाय, दान, दया, उपकार आदिक परिणाम किये जाते हैं, इन परिणामों का नाम कर्म है। इसमें कोई शुभ और कोई अशुभ कर्म होते हैं। अब इन कर्मों के होने से जो अन्य द्रव्यों में बात हो जाती है, कार्माणवर्गणा में कर्मत्व रूप आ जाता है उन ज्ञानावरणादिक प्रकृतियों को भी कर्म कहने लगते हैं। यह कर्म नाम उपचार से है। पौद्गलिक कार्माणवर्गणावों का जो कर्म नाम पड़ा है वह वास्तविक नाम नहीं है, उनका कर्म नाम उपचार से है लेकिन उनका उदय, उनकी प्रवृत्ति इस जीव के बन्धन में निमित्त हो रही है, इस विशेषता को मना नहीं कर सकते। यों द्रव्यकर्म और भावकर्मरूप जो शुभ-अशुभ कर्मों का समूह है वही पांचों प्रकार के संसारों को बढ़ाने में समर्थ हो रहा है। द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन, काल परिवर्तन, भव परिवर्तन और भाव परिवर्तन ये पाँच संसार हैं। इन संसारों को बनाने में समर्थ ये द्रव्यकर्म और भावकर्मरूप पुण्य-पाप हैं। ये सब इस परम तपश्चरण के प्रसाद से विलय को प्राप्त हो जाते हैं।

अशुद्ध परिणामों में पापपन- भैया ! पूण्यफल को पाकर हर्ष न मानना और पापफल को पाकर विशाद न मानना, यह सम्यग्दृष्टि पुरुष में ही हो सकता है। साधुजनों के पास कहां कुछ धन-वैभव होता है? उनके पास तो खाने पीने तक का भी कुछ साधन नहीं है फिर भी प्रसन्न रहा करते हैं। ये संसारी लोग तो धन-वैभव के न होने पर पाप का उदय समझने लगते हैं। यदि धन-वैभव के न रहने को पाप का उदय कहा जाय तो इन साधु-संतों को फिर पाप का उदय ही मानना चाहिए, क्योंकि कहां उनके पास धन-वैभव है? धन-वैभव से पाप का उदय न कूतना चाहिये, किन्तु अशुद्ध विचार संक्लेशपरिणाम, मोह रागद्वेष का अँधेरा ऐसी परिस्थिति हो उससे पाप का उदय कूतना चाहिए।

पाप के विनाश का तात्कालिक स्वाधीन उपाय- साथ ही यह भी बात है कि जो इष्ट है वह न मिले तो भी पाप उदय माना जाता है। अरे! धन रहता है तो रहे, नहीं रहता है तो न रहे, उससे पाप का उदय नहीं है। पाप का उदय यदि मिटाना है तो उसमें इष्ट बुद्धि की कल्पना छोड़ दो, पाप अपने आप खत्म हो जायेगा। पाप इष्ट की बाधा को कहते हैं, पाप अनिष्ट के संयोग को कहते हैं। इस जीव के लिए कोई भी बाह्य पदार्थ अनिष्ट नहीं है। जो जैसा है, परिणमता है, वह मेरे लिए अनिष्ट क्या है, पर कल्पना में जब अनिष्ट बताते हैं तो वही अनिष्ट का संयोग पाप का उदय होता है। यह पाप का उदय मिटाना है तो परपदार्थ को अनिष्ट मानने की कल्पना को त्याग दो, पाप का उदय स्वयं नष्ट हो जायेगा। ये सब शुभ-अशुभ कर्मसमूह परमतपश्चरण अथवा भावशुद्धि के बल से विलय को प्राप्त हो जाते हैं। इस कारण जो अनन्त भवों में अपराध किया है उन सब अपराधों को दूर करने में समर्थ एक प्रायश्चित्त है।

भावशुद्धिरूप परमतपश्चरण का सामर्थ्य- यह शुद्ध उपयोगरूप परमतपश्चरण ही प्रायश्चित्त है। यह परमतपश्चरण, यह उपयोग अपने आत्मा में ही मिला करता है। परम तत्त्व है आत्मा का शुद्ध

ज्ञायकस्वरूप। उस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप अंतस्तत्त्व में उपयोग को तपाना, उपयोग को बनाये रहना, ऐसी जो चर्या है, वृत्ति है उसे कहते हैं परमतपश्चरण। ऐसा यह भावशुद्धि नामक परमतपश्चरण ही इस जीव का उद्धार करने में समर्थ है और संसार के समस्त संकटों को सदा के लिए दूर करने में समर्थ है। शुद्धनय प्रायश्चितरूप है। उन शुभ अशुभ कर्मों के क्षय के लिये और दूसरा कुछ भी काम नहीं पड़ा है। एक यह अंतस्तत्त्वरूप प्रायश्चित्त ही उन कर्मों को क्षय करने में समर्थ है। संत लोग इसे ही तप कहा करते हैं।

अन्तस्तपश्चरण का अपूर्व लाभ- चिदानन्दस्वरूप आत्मा चिदानन्दरस के अमृत के पान करने से तृप्त बना रहता है। तपश्चरण क्लेश के लिये नहीं होता, किन्तु शुद्ध आनन्द को लिये हुए होता है। जिन पुरुषों को शुद्ध आनन्द की खबर नहीं है वे पुरुष तपश्चरण को इन्द्रिय सुखों में बाधक जानकर क्लेश का रूप देते हैं, परन्तु सच्चा तपश्चरण वही है जहां शुद्ध अमृत रस के पान से तृप्ति बनी रहती है। यह कर्मों के विकट वन की विभावरूप अग्नि ज्वाला, रागद्वेष मोह की वृत्ति, वस्तुस्वरूप के विपरीत धारणा अनादि काल से बढ़ती चली आ रही है, उसको बुझाने में समर्थ यह शुद्ध कारणसमयसार का उपयोग है। यही सघन मेघ है। इनकी वर्षा ही इस विषयज्वाला को बुझाने में समर्थ है। यह तपश्चरण मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करने के लिए भेंट है। जैसे किसी महापुरुष से मिलाने के लिए भेंट रखी जाती है। तो उस मोक्ष-लक्ष्मी से मिलने के लिए क्या भेंट होनी चाहिये? यह है तपश्चरण। यही कर्मों का क्षय करने वाला प्रायश्चित्त है। इस अपने आपके शुद्ध स्वरूप के उपयोग से संसार के समस्त संकट दूर होते हैं।

गाथा 119

अप्पसरूवालंवणभावेण दु सव्वभावपरिहारं।

सक्कदि काउं जीवो तम्हा झाणं हवे सव्वं ।।119।।

विभावापराध के परिहार में समर्थ आत्मध्यानरूप प्रायश्चित्त- यह शुद्धनय प्रायश्चित्त का अधिकार है। इसमें वास्तविक प्रायश्चित्त बताया है। कोई अपराध हो जाय तो उस अपराध को दूर करने के लिए प्रायश्चित्त ही समर्थ है। जब तक अपराधों का प्रायश्चित्त नहीं किया जा सकता है तब तक अपराध दूर नहीं होते। व्यवहार में तो गुरुवों से अपना कसूर बता दिया निष्कपटभाव से जैसा का तैसा और गुरुवों ने जो आदेश दिया उसका पालन किया, यह प्रायश्चित्त है, पर परमार्थ से प्रायश्चित्त अपने आपमें विराजमान् उस स्वरूप का दर्शन करना है जिसमें अपराध का स्वभाव ही नहीं है। अपराध मिटाने के लिए निरपराध आत्मस्वरूप का उपयोग करना और उस शुद्ध आत्मस्वरूप के देखने में मग्न हो जाना, यह है वास्तविक प्रायश्चित्त। आत्मा के स्वरूप के अवलम्बन के परिणाम से समस्त दोषों का परिहार करने में यह जीव समर्थ होता है। इसलिए वास्तव में जो आत्मा का ध्यान है वही सब कुछ है।

आत्मध्यान की सर्वसिद्धिरूपता- किसी को शान्ति चाहिये तो वह शान्ति भी यही है कि सर्व बाह्य विकल्पों को त्यागकर अपने स्वरूप का आलम्बन करना, यही शान्ति का स्वरूप है। गुणविकास चाहिए तो उसका भी यह उपाय है कि गुणों का सागर जो अपना स्वरूप है उस स्वरूप का आलम्बन कर लें। सब सिद्धि इस ही रूप में बसी हुई है, बाहर कहीं कुछ सिद्धि नहीं है। यह बाह्य पदार्थों का धनवैभव का समागम भी यदि मिलता है तो यह अपने स्वरूप की उपासना का किसी अंश तक फल है। कोई आत्मा मलिन है, क्रूर है, पापी है, उसकी स्थितियां संसार में बुरी हुआ करती हैं। कोई पुरुष शुद्ध विचार वाला है, कषायों को

नहीं करने वाला है, मंदकषायी है और व्रत, तप, दान, दया सबमें जिसकी परिणति है, भोगों से विषयों से उदासीन है, वह पुरुष नियम से अच्छी गति पाता है।

निश्चयधर्मध्यान में गमन- भैया ! वर्तमान में कुछ भी उपसर्ग आये, कोई भी विपदा आये, उसमें घबरायें नहीं, धैर्य रखें और एक निर्णय के साथ कि मुझे तो मेरे स्वरूप का आलम्बन ही शरण है, बस आत्मस्वरूप की उपासना में लग लिया जाय, यही हम आप सबका करने योग्य पुरुषार्थ है। इसमें शुद्ध निश्चय के नियम का वर्णन है। नियमों से सर्वोपरि नियम यह है कि सर्वविकल्पों का परिहार करके अपने इस शुद्ध ज्ञानज्योतिमात्र आत्मस्वरूप में मग्न हो जायें। इसमें सब नियम आ गये। भिन्न-भिन्न और कुछ नियमों के यहां विकल्प करने की आवश्यकता नहीं है। बाहर में जितने भी नियम किये जाते हैं वे सब इस अन्त:स्वरूप में उपयोग को नियमित, निश्चित, स्थिर बनाने के लिए किए जाते हैं। इसमें अपने आत्मा के आश्रय होने वाले निश्चय धर्म का समावेश है। विकल्प हटाकर केवल ज्ञानप्रकाश का अनुभव करना यह है निश्चय धर्मध्यान। यह धर्मध्यान समस्त विभावों को दूर करने में समर्थ है। जो जीव अपने आपके चैतन्यस्वरूप की भावना करते हैं, जो चैतन्यस्वरूप समस्त परद्रव्यों से न्यारा प्रकाशमान् है उस पुरुष के विभाव ठहर नहीं सकते। देह में रहते हुए भी ऐसा उपयोग बनाना चाहिए कि देह की याद भी न रहे और साथ ही बाहर में किसी भी पदार्थ की याद न रहे।

मोह के विकल्प- मोही जीव के कभी-कभी ऐसा तो हो जाता है कि अपने देह की भी याद नहीं रहती, किन्तु देह से भी विकट जो परद्रव्य का वियोग है वह हो जाता है। जैसे गाय का बछड़े पर बहुत मोह रहता है। बछड़ा यदि बड़ी भयंकर विकट नदी में गिर जाय तो वह गाय भी अपने शरीर का ध्यान नहीं रखती और उस बछड़े के मोह में उसके पास पहुंचने के लिए कूद जाती है। तो देह का ध्यान तो उसे भी नहीं रहा, किन्तु ऐसा खोटा ध्यान, रागभरा ध्यान, मोहभरा ध्यान उसके हुआ कि देह से भी विकट बन गया। यों ही विषयों के साधन जुटाने में मोही पुरुष अपने देह की भी खबर नहीं रखते हैं, लेकिन वे परपदार्थों के प्रति आसक्ति तो रख रहे हैं, और ऐसा भी नहीं है कि उन्हें देह का ध्यान नहीं है। भीतर में, वासना में, संस्कार में देह की आत्मीयता बराबर पड़ी हुई है। यदि देह में आत्मीयता न होती तो बाहर के विषय-साधनों में भी वे जुटे न रहते।

प्रत्यग् ज्योति का आश्रय- जो जीव देह से भी भिन्न अपने स्वरूप का उपयोग रखते हैं वे विषय-साधनों से सहज ही विरक्त रहा करते हैं। अपने आपके स्वरूप को देखो, आत्मा जो जानने वाला, देखने वाला है वह किसी रंग में नहीं हुआ करता है। मेरे आत्मा का रंग काला हो, पीला हो, नीला हो किसी प्रकार के रंग का हो यह जानन परवस्तु में नहीं होता है। इस जानने वाले, इस ज्ञातास्वरूप आत्मतत्त्व में किसी प्रकार का रस नहीं है। यह तो आकाश की तरह अमूर्त निर्लेप है, सबसे न्यारा है, किसी से रंच भी सम्बन्ध नहीं है, उसमें खट्टा, मीठा, कडुवा, कषायला किसी भी प्रकार का रस नहीं है; न गन्ध है, न छुवा जा सकता है, यह तो आकाश की तरह अमूर्त किन्तु अपने ज्ञानादिक गुणों का आधारभूत चैतन्यतत्त्व है। समस्त परद्रव्यों से स्वभावत: न्यारा है, ऐसे स्वरूप की यदि खबर हो जाय तो तीन लोक का वैभव भी इस धन के आगे न कुछ चीज है। अपने इस स्वतंत्र आत्मतत्त्व की जिन्हें खबर नहीं है वे करोड़ों की सम्पदा भी रखे हों तो भी दीन हैं, गरीब हैं, भिखारी हैं, संसार के जन्म-मरण के बढ़ाने वाले हैं।

धर्मरत्न- सर्वोत्कृष्ट पुरूषार्थ रत्न है यह कि अपने आपके शुद्ध स्वरूप का अनुभव हो जाय, यह आत्मतत्त्व समस्त परद्रव्यों से स्वत: ही जुदा है, अक्षुण्ण है, किसी भी प्रसंग में आत्मा का खण्ड नहीं हो सकता। आत्मा में बाधा नहीं आ सकती। इसका विनाश नहीं हो सकता। यह आत्मा अमूर्त है, निर्दोष है,

अखण्ड है, सदा प्रकाशमान् है, आत्मा के स्वरूप पर कोई आवरण नहीं है, परन्तु देखने वाले को दिख सकता है। ज्ञानी के लिए यह आत्मदर्शन व्यक्त है, अज्ञानी पर तो आवरण अज्ञान का छाया ही हैं। यह बात कही जा रही है पूरा जिससे पड़ सके ऐसे पते की। भगवान के दर्शन पूजन करने का यही लक्ष्य है कि आत्मदर्शन हो। यह चीज न पायी तो वह दर्शन पूजन भी बेकार रहा। यदि आत्मस्वरूप का अनुभव न कर सके तो उस भजन-पूजन का भी लाभ न प्राप्त कर पाया। तत्त्वज्ञान की बात मिलना बहुत दुर्लभ बात है। इस ज्ञान के आगे तीन लोक का भी वैभव न कुछ चीज है।

आन्तरिक धर्म के अभाव में धर्मफल का अभाव- ऐसे लोग भी जो ज्ञान में अब भी बच्चे जैसे हैं। धर्म पालन के लिए बहुत श्रम कर रहे हैं, पूजा, भक्ति, यात्रा, समारोह, विधानादि और द्रव्य भी बहुत खर्च करते हैं, परन्तु यदि वहाँ भी वास्तव में धर्म करता होता तो धर्म की बात पढ़ने-सुनने में इसे रुचि क्यों नहीं जगती? यदि धर्म की बात मानने की रुचि नहीं जगती है तो यह निर्णय करना कि सब परिश्रम तो जो धर्म के नाम पर किए जा रहे हैं उनका उद्देश्य ही प्राप्त नहीं हो सका और वह धर्म श्रेणी में नहीं है। भले ही तन, मन, धन, वचन, सब कुछ भी धर्म के लिए किया जा रहा है, लेकिन वहाँ न एक भी कर्म का क्षय हो सकता, न बंध रुक सकता है। हाँ, कभी इतना अन्तर आ सकता है कि शुभ परिणाम होने से अथवा तीव्र कषाय न रहने से उसके पापबंध कम होगा। प्रथम तो यह भी निश्चित नहीं है कि पूजा करते हुए में पुजारी के तीव्र कषाय न रहे। हाँ, एक मंदिर के स्थान में पहुंचा है इसलिए लड़ाई करने को उसे कोई नहीं मिल रहा है तो लड़ाई तो नहीं कर रहा है, किन्तु हरदम उसने विषयसाधनों की ओर दृष्टि की है, मेरी सम्पदा बढ़े, मेरा घर सुखी रहे, यदि किसी प्रकार की वासना लगायी है तो वह तीव्र कषाय है, इसको ही अनन्तानुबंधी लोभ कहते हैं। धर्म के नाम पर धर्म करते हुए विषयों के प्रति लोभ पहुंचना, यह अनन्तानुबंधी लोभ है। तीव्र कषाय ही तो हुई। कषायें भी तो वहाँ मंद नहीं हो सकी, जिसने अपने आपमें विराजमान् इस कारणप्रभु को नहीं निरखा है।

चैतन्य परमप्रभु की उपासना का प्रताप- निरावरण सहज परमपारिणामिक भाव चैतन्यस्वरूप की उपासना ही परमशरण है। उसकी उपासना से अन्य भावों का विलय हो जाता है। जीव के भाव 5 हैं- औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक। इनमें से निरपेक्ष शुद्ध तत्त्व है पारिणामिक चैतन्यस्वरूप। उस चैतन्यस्वरूप का अवलम्बन करने से यदि उपशमन पद्धति बने तो औपशमिक भाव प्रकट होता है क्षयण पद्धति बनती है तो क्षायिक भाव प्रकट होता है। इस तरह शेष के चार भावों में ये औपशमिक और क्षायिक दो भेद निर्दोष भाव हुए, दोषों को हटाकर प्रकट होने वाला भाव हुआ, क्षायोपशमिक है कुछ दोषों को हटा देना, कुछ दोषों का ग्रहण होना, ऐसा मिलवां भाव है और औदयिक भाव तो बिल्कुल ही दोषों को प्रकट करने वाला भाव है। ये चारों ही भाव सापेक्ष भाव हैं जिनमें औदयिक तो पूर्ण विभाव है, क्षायोपशमिक भाव विभाव और स्वभाव का एक मध्यमरूप है। औपशमिक भाव, क्षायिक भाव यद्यपि स्वभाव को प्रकट करने वाले हैं फिर भी सापेक्ष हैं। कर्मों के उपशम से औपशमिक और क्षय से क्षायिक भाव होता है। उत्कृष्ट, विशुद्ध, एकपंचम परमपारिणामिक भाव है जिसका आलम्बन करने से इन चारों भावों का भी परिहार हो जाता है। राग, द्वेष, मोह इनका अत्यन्त अभाव हो जाता है।

अत्यासन्न भव्यात्मा- इन विभावों का विनाश करने में समर्थ अतिनिकट भव्य जीव जिसको संसार के संकटों से छूटने का अवसर आया है उसे ही इस धर्म की रुचि हो सकती है। वास्तविक धर्म अपना स्वभाव है। शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप की रुचि उस जीव के ही प्रकट होगी जिसका संसार से छूटना निकट है, मुक्ति की प्राप्ति निकट है। ऐसे आसन्न भव्य जीव एक इस आत्मा के स्वरूप का आलम्बन करके इस

समस्त पापरूप जंगल को जला डालता है। वह जाज्वल्यमान् ऐसी अग्नि है कि जिसके समक्ष ये पाप ठहर नहीं सकते, भस्म हो जाते हैं।

सम्यक् परम निर्णय- जो आत्मा अपने स्वरूप का अभ्यास करते हैं उन्हें सिद्धि होती है। अपने आपमें यह निर्णय रखिये कि मुझे सब कुछ मिल सकेगा तो निज परमात्मप्रभु की उपासना से मिल सकेगा। जगत् के मोही, रागी, द्वेषी जीवों की क्या अपेक्षा करना? श्रद्धान निर्मल बनाओ। निर्मल श्रद्धान यही है जो अंतरंग में एक यह निर्णय रहता है कि मेरा भला, मेरी शरण, मेरे शुद्ध स्वरूप का आलम्बन है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ न भला है, न शरण है। मेरे लिए अपने आपके स्वरूप का आलम्बन करना कर्तव्य है, यही शुद्धनय प्रायश्चित्त है।

आत्मध्यान में व्रतों की पूर्ति- यह आत्मध्यान सभी प्रकार का तपश्चरण है। पंच महाव्रतों की पूर्ति इस आत्मध्यान से होती है। हम जीवों की दया-दया तो करते रहें और जीव का जो यथार्थ स्वरूप है, उसका भान न रहे तो उसने संसार का भ्रमण तो नहीं मिटाया तो वास्तव में उसके अहिंसा की पूर्ति नहीं हुई। यों ही शेष के चार व्रतों की भी यही बात है। कोई खूब सत्य बोले, चोरी न करे, ब्रह्मचर्य पाले, घरबार, कुटुम्ब परिजन, पैसा वस्तु सबका त्याग करके निर्ग्रन्थ रूप भी रख ले, किन्तु यदि आत्मस्वरूप की खबर नहीं, अपने इस सहजस्वरूप की खबर नहीं है, अपने इस सहजस्वरूप का अनुभव न हो तो ये सब व्रत भी वास्तव में व्रत नहीं कहला सकते। वास्तविक उनकी परमार्थ पूर्ति नहीं होती। यदि एक आत्मस्वरूप का बोध हो, उसका आलंबन हो तो उसकी पूर्ति हो जाय, यों इस आत्मध्यान में ही महाव्रतरूप तपश्चरण होता है।

आत्मध्यान में समितियों की पूर्ति- समितियां भी इस आत्मस्वरूप के आलम्बन से सम्बन्ध रखती हैं। सूत्र जी में पढ़ा होगा, पंचमहाव्रतों को तो बताया है कि ये आस्रव करने वाले हैं, कर्मबन्ध करने वाले हैं। कौनसे कर्म का, पुण्यक, सुकृत का, पापकर्म का नहीं। महाव्रतों का पालन करने से पुण्य का बंध होता है, पर समितियों का पालन करने से कर्मों का बंध रुकता है, निर्जरा होती है। अब कुछ सुनने में अटपटसा लग रहा होगा। व्रतों का पालन तो बैठे-बैठे किया जा रहा है, किन्तु समिति का पालन तो कुछ काम करें तब होता है। ईर्यासमिति से चलें, भाषासमिति से बोलें, आहार के लिए एषणासमिति से जायें, चीजों को धरें, उठायें तो आदान-निक्षेपणसमिति से धरें उठायें। मल-मूत्र की भी प्रतिष्ठापनासमितिरूप पद्धति है। इन समितियोंरूप काम करें तब समितियों का पालन होता है, परन्तु ज्ञानी जीव को वह कौनसा प्रकाश जगा है जिस प्रकाश के कारण इन समितिरूप वृत्तियों में भी संवर भाव और निर्जरा भाव चल रहा है। वह है इस आत्मा के उज्ज्वल सहजस्वरूप की दृष्टिरूप सिद्धि।

समितियों की तरह गुप्ति आदि की भी पूर्ति आत्मध्यान में- इस अध्यात्मस्वरूप के अवलम्बन सहित अपने आपमें सत्य-प्रवर्तन करने वाला, अपने ही स्वभाव का ग्रहण और अपने ही विभाव का निक्षेपण करने वाला और अपने आपको अपने आपमें ही प्रतिष्ठित करने वाला यह अध्यात्मयोगी बाहरी प्रकृति भी कर रहा है तब भी कर्मों का संवर चलता है। यों समितियों की पूर्ति जैसे अपने ही सहजस्वरूप के अवलम्बन में होती है, ऐसे ही गुप्ति मन, वचन, काय को रोक दें यह भी आत्मध्यान में बनता है। प्रत्याख्यान वस्तुओं का परित्याग करने में, आत्मध्यान में ही हो पाता है। ये प्रायश्चित्त आलोचना आदिक समस्त प्रकार के तपश्चरण इस आत्मस्वरूप के अवलम्बन से बनते हैं। इस कारण यह आत्मध्यान ही सब कुछ है। सुख, ज्ञान, हित, कल्याण सब सिद्धि आत्मा के ध्यान से ही है। जो पुरुष स्थिर भाव से इस ज्योति के दर्शन के द्वारा राग द्वेष मोह अंधकार का विनाश कर देते हैं, जो अनादि अनन्त शाश्वत स्हजस्वरूप का आलम्बन

किए हैं, जिस पुरुष ने इस आनन्दस्वरूप ज्योति का ही उपयोग किया है, ऐसा यह शुद्ध आत्मा शुद्ध आचरण का पुन्ज है।

शुद्धाचारस्वरूप भव्यात्मा- सब सदाचारों में श्रेष्ठ आचार केवल एक यह ज्ञानस्वरूप में मग्न होना है। ज्ञानस्वरूप के मग्न होने पर फिर कौनसा आचरण बाकी रह गया? उसने समस्त आचरण कर लिये। ऐसा यह शुद्ध आचरण पुन्ज इस आत्मध्यान के प्रताप से शीघ्र संसार से मुक्त हो जाता है। इस संसार में यदि कुछ सोने चाँदी के टुकड़े मिल गये। इनसे इस आत्मा का क्या भला हो सकता है? ये तो इस आत्मा से भिन्न हैं। अचानक ही किसी दिन मरण कर गए तो सब कुछ यही पड़ा रह जायेगा। जो पुरुष अपने जीते जी उदारता प्रकट करते हैं और त्याग की भावना का प्रयोग करते हैं वे अपने आपमें एक ज्ञान वैराग्य का धन ले करके जा रहे हैं। उन्हें अगले भव में भी जब तक संसार शेष है तब तक वैभव का समागम मिलता रहेगा और जो यहाँ के वैभव की तृष्णा रखते हैं, ऐसे पुरुषों को आगे वैभव नहीं मिल सकता है। वे तो न जाने कैसी दुर्गति में जायेंगे?

परम लाभ- भैया ! इस ज्ञान वैराग्य से इस आत्मस्वरूप के आलम्बन से इस भव में भी आनन्द बरसता है और परभव में भी आनन्द का समागम होता है। इस कारण प्रत्येक प्रयत्न करके अपने तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्यौछावर करके एक इस सहज शुद्ध ज्ञानानन्दमय आत्मस्वरूप का आलम्बन करना चाहिए, और इस परमशरण की प्राप्ति के लिए ज्ञानार्जन में अपना चित्त लगाना चाहिए। जो कुछ भी प्राप्त हैं वे सब भी न्यौछावर हो जाएँ और एक यथार्थ तत्त्वज्ञान का अनुभव हो जाय तो उसने सब पाया। हम अरहंत सिद्ध के स्वरूप को क्यों पूजते हैं? क्या उनके पास कुछ धन है? अरे ! उनके ये बाह्य वैभव धन नहीं हैं, किन्तु आत्मीय ज्ञानानन्द की निधि उनके पूर्ण प्रकट हुई है, इसलिये वे पूज्य हैं, धन्य हैं, कल्याणार्थियों के उपास्य हैं।

गाथा 120

सु असुहवयणयणं रायादीभाववारणं किच्चा।

अप्पाणं जो भायदि तस्स हु णियमं हवे णियमा ।।120।।

निश्चय नियम और इसका अधिकारी- जो पुरुष शुभ-अशुभ वचनों का परित्याग करके रागादिक भावों को दूर करके आत्मा का ध्यान करता है उसके नियम से नियम होता है। नियम का अर्थ है रत्नत्रय। जो भाव आत्मा को आत्मा में नियत कर दे, गढ़ा दे उसे नियम कहते हैं। आत्मनियन्त्रण का नाम नियम है। आत्मा के ज्ञान में यह आत्मा मग्न हो जाय, किसी प्रकार का विकल्पजाल न उठे इसका नाम नियम है। इस गाथा में शुद्ध निश्चयनय नियम का स्वरूप कहा गया है।

नियम में कर्मनिर्मूलन का सामर्थ्य- जो परम तत्त्वज्ञानी, भव्यपुरुष, महान् तपस्वी चिरकाल से संचित चले आए हुए सूक्ष्म कर्मों के दूर करने में समर्थ है, निश्चयप्रायश्चित में कुशल है उस पुरुष के नियम होता है। जीव के साथ जो रागद्वेष भाव लगे हैं इनका तो नाम भावकर्म है और उन रागद्वेषादिक भावों का निमित्तभूत जो कर्मों का उदय है उसका नाम द्रव्यकर्म है। भावकर्म तो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श सहित है, सो सूक्ष्म है। यह अमूर्त होकर भी उपचार से मूर्त कहलाता है और जो साथ में लगे हुए 8 तरह के कर्म हैं वे कर्म भी सूक्ष्म हैं। जीव के मरण के बाद वे आठों कर्म साथ जाते हैं, न वज्र से अटकते हैं, न काँच से अटकते हैं इतने सूक्ष्म हैं। ये सूक्ष्मकर्म चिरकाल से इकट्ठे हुए चले आये हैं, उन कर्मों को दूर करने में

समर्थ निश्चय प्रायश्चित्त है। निश्चयप्रायश्चित कहो या निश्चय नियम कहो अथवा सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र के साधन कहो, एक ही बात है। रत्नत्रय में ही यह सामर्थ्य है कि भव-भव के संचित सूक्ष्म कर्मों का विनाश कर दे।

नियमी पुरुष के मन वचन काय का नियन्त्रण- उन कर्मों के विनाश करने में कुशल परमतत्त्वज्ञानी जीव समस्त रचना का निरावरण करते हैं। उनके मन, वचन और काय नियमित हैं। वे अपने मन को स्वच्छन्द नहीं प्रवर्ताते हैं। जो आत्मा के हित का कारण है ऐसे भाव में ही अपने उपयोग को लगाते हैं। वे अपने वचनों को अनाप-सनाप नहीं प्रवर्ताते हैं। किन्तु जिन वचनों में आत्महित भरा है, जो वचन आत्मा को संसार से छूटाने वाले वचन हैं उन वचनों का तो हमें कुछ आदर रखना है और शेष वचनों का परिहार करना है। योगी पुरुष शरीर से भी वही चेष्टा करेगा जो मोक्षमार्ग की साधना के लिए किसी परिस्थिति में आवश्यक है। शेष अनाप-सनाप शरीर की चेष्टाएँ भी न करेगा। यों मन, वचन, काय को जिसने नियमित किया है ऐसा भव्य पुरुष समस्त वचन रचनावों का निवारण करता है। ये वचन कोई शुभ हैं कोई अशुभ। चाहे शुभ हों चाहे अशुभ, पर संसार के बढ़ाने के ही कारण हैं। मोक्षमार्ग के वचनों में तो इसलिये मोक्षमार्ग बढ़ाने की बात कही जाती है कि इस ज्ञानी का आशय हित ग्रहण करके उन वचनों से भी छुटकारा पाने का है। यों समस्त वचनरचना का जो निवारण करता है उस पुरुष के यह नियम होता है, रत्नत्रय बनता है।

विभाववारण में अध्यात्मयोग का प्रकाश- अध्यात्मयोगी केवल वचनरचना का ही परित्याग नहीं करता है, किन्तु वचनविषयक सर्व प्रकार के राग द्वेष मोह भावों का तथा समस्त रागद्वेष मोह भावों का निवारण करता है। यह जीव स्वयं सहज परमात्मा है। इसमें ज्ञान और आनन्द का स्वरूप ही बना हुआ है, किंतु अपने ज्ञानानन्दस्वरूप की खबर न रहने से यह जगत् के बाह्य वैभव की आशा किए फिरता है। उन रागादिक भावों का जो निवारण कर सकता है, वह आनन्दनिधि आत्मतत्त्व से भेंट कर लेता है।

अखण्ड-आत्मा का मात्र प्रतिपादन व्यवहार के लिए खण्डीकरण- ज्ञानी पुरुष के शुद्ध तत्त्व की दृष्टि का बहुत बड़ा बल है। किसी इष्ट पदार्थ का संयोग अथवा वियोग होने से उसके चित्त में धैर्य रहता है। इसका कारण यह है कि उसने सबसे न्यारे अपने निज तत्त्व को निरखा है। यह आत्मा अखण्ड है, इसके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का खण्ड नहीं होता है। जो भी जब पर्याय होती है वह अपने समय में पूर्ण है और एक है। इसमें जो भाव है वह एक है, अद्वैत है, अखण्ड है। यह तो एक समझाने के लिए भेद किया जाता है कि आत्मा में ज्ञान गुण है, दर्शन गुण है, चारित्र गुण है, आनन्द गुण है। ये गुण कुछ अलग-अलग वस्तुयें नहीं हैं, अलग-अलग तत्त्व नहीं हैं, किन्तु जैसा एकस्वरूप है, आत्मा है उस एकस्वरूप आत्मा का परिचय कराने के लिए अखण्ड अद्वैत स्वलक्षण में भेद करके बताये जाने की संतों की पद्धति है। यह आत्मा अखण्ड है, अद्वैत है। इसमें निरन्तर आनन्द झरता रहता है। यह आत्मा किसी भी बाह्य पदार्थ का आश्रय न करे, केवल एक निज तत्त्व का आश्रय ले तो इसमें भी आनन्द झरता है।

आत्मतत्त्व की निरूपमता- सहज आनन्द को उत्पन्न करने वाले इस आत्मा की उपमा लोक के किन्हीं पदार्थों से भी नहीं की जा सकती है। यह आत्मा अनुपम है, चेतन है, इसके सिवाय बाकी समस्त पदार्थ अचेतन हैं। उसकी सानी का कौनसा तत्त्व होगा? यद्यपि समस्त पदार्थ अपने-अपने सत्त्व में हैं, न्यारी-न्यारी सत्ता रखते हैं, फिर भी सबकी व्यवस्था करने वाला, सबको जानने वाला यह आत्मा ही है। कल्पना कर लो कि सब कुछ होते, पुद्गल होते, धर्मादिक द्रव्य होते, एक जीव भर न होता तो कौन सत्ता जानता? किसके लिए वह सत्ता थी? प्रथम तो यह बात है। यदि जीवतत्त्व न होता तो यहां कुछ भी न होता। जो

कुछ दिख रहे हैं भीत, चौकी, पत्थर इत्यादि ये सब यों ही नहीं हो गये। वे पहिले पृथ्वीकाय थे, वनस्पतिकाय थे। जीव के सम्बन्ध से उनके काय की रचना हुई है। जीव न हो तो अंकुर कैसे बने, वृक्ष कैसे बने और फिर ये दृश्यमान् पदार्थ कैसे हो जाते? जो कुछ भी दिख रहे हैं ये सब भी पहिले जीव थे। कंकड़ पहिले पृथ्वीकाय में था; चौकी, बैंच आदि ये वनस्पतिकाय के जीव थे। ये कपड़े वनस्पतिकाय के जीव थे। ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो पहिले जीव न रहा हो। इससे यह निर्णय करना कि जीव न होता तो कुछ न होता, सो यह जीव तत्त्व अनुपम है, इसकी उपमा किसी पदार्थ से नहीं की जा सकती है।

आत्मतत्त्व की निरन्जनता- यह मेरा आत्मस्वरूप चैतन्य भाव जिसका आश्रय करने से धर्म होता है वह निरन्जन है। अपने सत्त्व के कारण केवल अपने स्वरूप में है। इसमें कर्म इसकी सत्ता के कारण नहीं लगे हैं। इसमें यह शरीर जीव के सत्त्व के कारण नहीं लिपटा है। जीव अब भी अपने स्वरूप में केवल है। इसमें बाह्य पदार्थ का सम्बन्ध है, तिस पर भी जीव अपने स्वरूप को नहीं छोड़ सकता है। ऐसा यह आत्मतत्त्व निरन्जन है, यह मैं ऐसा कारणपरमात्मतत्त्व हूं। इस परमात्मतत्त्व की जो पुरुष नित्य भावना करते हैं, ऐसा ही अनुभव रखते हैं, मैं मात्र कारणसमयसार हूं, इस प्रकार की जो पुरुष अपनी श्रद्धा रखते हैं उनके नियम से शुद्ध निश्चय नियम होता है।

इस लोक में मेरा कहीं कुछ कारण नहीं है। जिस पदार्थ की ओर अपना उपयोग दौड़ाये वह पदार्थ भिन्न ही है ना, इस कारण उसका आश्रव तो धोखा ही देने वाला होता है। बड़े-बड़े पुण्यवान् जीव इसी बात पर हार गए हैं। कितने ही बादशाह ऐसे हुए हैं जिन्होंने मंदिरों को तोड़कर, राजाओं पर अन्याय करके अपना साम्राज्य बढ़ाया, लेकिन अन्त में मरना ही पड़ा और अकेले ही जाना पड़ा। सारा ठाठ यहाँ का यहाँ ही रह गया है। इस ढंग से इस जीव को न वर्तमान में सुख है और न आगामी काल में सुख होगा। आनन्द कहाँ हो सकता है? जब आनन्द नाम का गुण ही अपना इन पदार्थों में नहीं है तो इन बाह्य पदार्थों से आनन्द प्रकट कैसे हो सकता है? आनन्द तो आनन्द के स्थान से ही प्रकट होगा। कोई पुरुष ज्ञान का बल बढ़ाकर अपने आपके ज्ञानस्वरूप को निहारकर रागद्वेष का त्याग करता है और समतापरिणाम में रहता है तो उसको आनन्द स्वयं अपने आप प्रकट हो जायेगा। आनन्द समता से मिलेगा, रागद्वेष के करने से आनन्द का घात होता है। जिन्हें आनन्द चाहिये, शान्ति चाहिये उनका कर्तव्य है कि वे रागद्वेष मोह भाव का परित्याग करके समता-परिणाम का आश्रय लें।

नियम शब्द के अर्थ का विवरण- भैया ! वह बड़ा तपस्वी पुरुष है जो अपने उपयोग को अपने स्वरूप में नियन्त्रित करता है, रागद्वेष नहीं उत्पन्न होने देता है। परमाणुमात्र को जो अपने स्वरूप से भिन्न निरख रहा है, उसकी तुलना जगत् में अन्य कोई जीव नहीं कर सकता है। जो भव्य सर्वप्रकार के भीतर में उठे हुए वचनों का और बाहर में बोले जाने वाले वचनों का परिहार कर देता है और इस सहज परमात्मा की निरन्तर भावना करता है वह परमनियमी है। लोक में कहते हैं कि यह बड़े नियम से रहता है। वे नियम क्या हैं? समय पर दुकान खोलना, बंद करना, समय पर खाना, इनको ही लोग नियम कहा करते हैं, पर वास्तव में ये नियम नहीं कहलाते। ये तो वो अनियत बातें हैं, जो आत्मा के स्वभाव में निश्चित नहीं हैं ऐसी कर्मोदयजन्य बातें हैं। इनका नाम नियम नहीं है किन्तु जो आत्मा में स्वभाव की बात है, आत्मा में जो सत्त्व के कारण नियत स्वरूप है उस स्वरूप में अपने आपको लगा लेना, नियमित कर देना, इसका नाम है नियम। बाकी जो विषय-भोग मन के, यश के, बढ़ावे के जितने भी संकल्प है और इन आरम्भ परिग्रह सम्बंधी जितने भी मन, वचन, काय के कार्य हैं, चाहे व्यवहार समय पर किए जाएँ, लेकिन सब अनियम हैं। नियम तो आत्मा के शुद्ध स्वरूप में नियत होने का नाम है।

नियम में नियम से नियत असीम उद्‌भूति- जो परमार्थत: नियमी पुरुष है, ज्ञानी पुरुष है, तत्त्व मर्म का अनुभवी करने वाला पुरुष है उस ज्ञानात्मक पुरुष के यह नियम, नियम से मुक्ति के आनन्द को उत्पन्न करने वाला है। सत्य आनन्द तो समता-परिणाम में है, बाकी तो सब स्वप्न की तरह विभूति हैं। जैसे स्वप्न में बड़ा वैभव दिखा तो वह कल्पना में आनन्द मान रहा है लेकिन वहाँ है क्या? कुछ भी नहीं है, केवल कल्पनाजाल है, इसी प्रकार इन चर्मचक्षुवों की जगती हुई दशा में भी यह सब कुछ दिख रहा है, पर यह सब कुछ है क्या? कुछ भी नहीं है, परमार्थ वस्तु नहीं है। परमार्थभूत तत्त्व तो आत्मा का आत्मा में चैतन्यस्वरूप है, इसका जिन्हें परिचय नहीं हुआ है वे अब भी दीन हैं, गरीब हैं, भिखारी हैं, पर की आशा में रहकर शरीर का बंधन पाकर अपना जन्ममरण बढ़ा रहे हैं। जो पुरुष जैसा निरन्तर अखण्ड, अद्वैत, चैतन्यस्वरूप निर्विकार है वैसा ही अपने को देख रहा है, शरीर में रहकर भी शरीर से भिन्न अपने आपके स्वरूप में तन्मय अपने को निरखता है, जो निर्विकार, जाननमात्र रहता है वह ही परमार्थ से अपने निर्विकार स्वरूप में प्रवेश कर सकता है।

आत्मतत्त्व में भेदवाद का अप्रवेश- इस आत्मा में किसी नय का प्रवेश नहीं है। नय तो भेदवाद को कहते हैं। किसी भी स्वरूप को भिन्न-भिन्न करके कहना वह नय का स्वरूप है। दिखने वाले पदार्थों को भी बताने वाला कोई एक शब्द नहीं है। यह चौकी कैसी है? आप क्या उत्तर दोगे? कोई उत्तर आपके पास नहीं है। जो भी उत्तर आप दोगे वह लंगड़ा उत्तर होगा। चौकी को पूरा बता सकने वाला तो आपके पास कुछ उत्तर ही नहीं है। कोई कहेगा कि ये इतनी ऊँची है, यह तो चौकी का एक अंश बताया गया है। इस समग्र चौकी को कहने वाला कोई शब्द ही नहीं है। कोई कहेगा कि यह इतनी लम्बी-चौड़ी है। यह भी चौकी का पूरा स्वरूप नहीं है। कोई कहेगा कि यह लाल रंग की है, यह भी चौकी का स्वरूप नहीं है। चौकी के स्वरूप को कहने वाला भी कोई शब्द नहीं है जो एक ही शब्द से कह दे। कोई कहे कि यह चौकी है। लो कह दिया ना, इस पूरे चौकी पदार्थ को। अरे ! अब भी नहीं कहा। 'यह चौकी है' इसका अर्थ यह है कि यह चार कोने वाली है, चतुष्कोणी का बिगड़कर चौकी शब्द रह गया है। तो ये ही तो चौकी पदार्थ के चार कोने हैं, पूरी चौकी का स्वरूप कहाँ आया? यह इतनी मजबूत है कि इस पर कोई खड़ा हो जाय फिर भी न टूटे। यह बात चौकी शब्द में कहाँ कही गयी है, सभी बातें छूट गयी हैं। तो इन दृश्यमान् पदार्थों को भी बताने के लिये कोई शब्द नहीं है, फिर इस आत्मतत्त्व को कहने वाला तो शब्द ही क्या होगा? लेकिन इस आत्मतत्त्व के समझाने के लिये भेद करके नयवाद का अवतार किया है, पर जो अनुभव में आने योग्य परिपूर्ण अंतस्तत्त्व है उसमें नयवाद का प्रवेश नहीं है।

अनुभव की अवक्तव्यता- नय के विकल्पों से यह मैं परमात्मतत्त्व दूर हूं। कोई मिष्ट चीज खा ली, उसका स्वाद तो आप कह सकते हैं पर वचनों से सही बात आप बता नहीं सकते हैं, क्या बतावोगे? जब दूसरे को खाना परोसते हैं तो सब समझते हैं कि अब इस चीज के साथ यह चीज देनी चाहिए, इसमें इन्हें आनन्द आयेगा क्योंकि अपने अनुभव में वैसी ही बात आयी है ना? वह स्वाद तो आ सकता है, पर स्वाद को बताने के लिए कुछ शब्द नहीं है। इस आत्मतत्त्व का अनुभव तो हो सकता है, कैसा है यह ज्ञानप्रकाश? उसका अनुभव तो किया जा सकता है निर्विकार बनकर, पर उस आत्मतत्त्व के अनुभव की बात शब्दों से कहें तो यह बताने में नहीं आ सकती है।

परिचितों में संकेतों की सफलता- आत्मानुभव को बताने के लिये शास्त्रों में जो शब्द कह गये हैं वे शब्द उन्हीं को ही बता सकते हैं जिन्होंने आत्मानुभव किया है या आत्मानुभव के निकट पहुंचे हैं अन्यथा वह गूंगों जैसी बात है। जैसे एक गुंगा किसी दूसरे गूंगे-बहरे से कुछ कहे या कोई सूझता किसी गूंगे बहरे से

कुछ कहे तो वह कुछ नहीं समझता है। इसी प्रकार कोई पुरुष किसी ज्ञानी से बात करे या अज्ञानी अज्ञानी से बात करे तो क्या समझेगा उसमें? यह आत्मतत्त्व, यह चैतन्यस्वरूप भेदनय से दूर है, ऐसा जो अपने आपमें बसा हुआ परमात्मपदार्थ है उसे मैं भली प्रकार से भाता हूं, उसकी उपासना करता हूं, नमन करता हूं।

परमशरण शुद्ध परमात्मतत्त्व का दर्शन- लोक में अपना परमपिता, परमशरण सर्वस्व अपने आपको शुद्ध स्वरूप में देख लेना है, इतना काम यदि न किया जा सका तो मनुष्य होना, सुविधावान् बनना सब बेकार है और यदि एक यह आत्मस्वरूप के अनुभव का काम किया जा सका तो जीवन सफल है। कैसे होता है इस परमात्मप्रभु का दर्शन? इसकी दृष्टि के लिये अपने परमात्मप्रभु का उपासक बनना होगा। किसी भी परमतत्त्व की ओर आस्था रहेगी तो परमात्मा का दर्शन नहीं हो सकता। शुद्ध भेदविज्ञान करके समस्त परपदार्थों की आशा को मिटाकर जब अपने आपके स्वरूप का प्रकाश होता है वहाँ आत्मानुभव होता है। उस स्थिति में ध्यान ध्येय एक हो जाते हैं। यह ध्यान है, यह ध्याता है, यह ध्येय है और यह ध्यान का फल है ऐसा विकल्पजाल चिन्तन जब नहीं रहता है और केवल एक शुद्ध ज्ञानमार्ग का ही ज्ञान निरखते हैं तो आत्मानुभव होता है। इस आत्मानुभव में जो कुछ अनुभव हो, वही शुद्ध परमात्मतत्त्व है। ऐसे शुद्ध परमात्मतत्त्व की मैं उपासना करता हूं।

अन्तस्तत्त्व की अभेद उपासना में मुक्ति का नियम- जो जीव योगी होते हैं, इस अध्यात्मयोग में जिन्होंने प्रवेश किया है वे तत्त्व को समझते हैं, मर्मज्ञ हैं, फिर भी कदाचित् उनमें भेदवाद उत्पन्न हो जाय, भेद उपासना, भेद वृत्ति, भेद संयम, भेद प्रवृत्ति उत्पन्न हो तो वह पुरुष कदाचित् मुक्ति का पात्र भी है, कदाचित् मुक्ति का पात्र नहीं भी है। जो अभेद उपासना में निरत हैं ऐसे योगीजनों का तो नियम है कि वे अवश्य ही उसही भव से मुक्ति प्राप्त करेंगे, किन्तु जिनका चित्त आत्मा की अभेद भक्ति, अभेद उपासना में नहीं लग रहा है, अभेद आराधना नहीं बन रही है, वे भिन्न-भिन्न मूल गुणों के पालने में, समिति गुप्ति के भली प्रकार निर्दोष धारण करने में लग रहे हैं और नाना युक्ति ज्ञानों से जो अपना ध्यान परिज्ञान बना रहे हैं ऐसे भेदप्रमुख साधु उस भव से मुक्ति के पात्र हैं या नहीं, मुक्ति इसकी होगी अथवा न होगी, इसे कोई नहीं कह सकता है। हो भी सकती है मुक्ति, नहीं भी हो सकती है।

ज्ञायकस्वरूप के अनुभव में सर्वसिद्धि- भैया ! जब भी मुक्ति होगी किसी को तब अंतस्तत्त्व के आलम्बन से ही होगी। अंतस्तत्त्व का आलम्बन ही अपना शरण है, ऐसा निर्णय करके ऐसा ही ज्ञान बनाएँ, ऐसी ही संगति बनाएँ जिससे हमारा ध्यान हमसे ओझल न हो जाय और हम मोक्षमार्ग में निर्बाध अपना गमन कर सकें। यह शुद्धनय प्रायश्चित्त का अधिकार है, इसमें सर्वविभावरूप अपराधों के प्रायश्चित्त का उपाय एक ही कहा गया है- शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का अनुभव करना।

गाथा 121

कायाईपरदव्वे थिरभावं परिहरत्त अप्पाणं।

तस्स हवे तणुसग्गं जो भवइ गिव्विअप्पेण ।।121।।

कायादिव्युत्सर्ग में निश्चयप्रायश्चित- शरीर आदिक परद्रव्यों में स्थिरता को छोड़कर जो भव्य पुरुष आत्मा को निर्विकल्परूप में ध्याता है, उसके कायोत्सर्ग कहा गया हैं, शुद्धनय प्रायश्चित्त के अधिकार में यहाँ निश्चय कायोत्सर्ग का वर्णन है, शरीर और अन्य समस्त परपदार्थों में ममता का न करना, बुद्धि का न लगाना इसका नाम कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग इस शब्द के कहने पर सभी परद्रव्यों की ममता का त्याग

समझना चाहिए। उत्सर्ग के मायने हैं ममता का त्याग करना और कायोत्सर्ग का अर्थ है शरीर से ममता का त्याग करना।

कायोत्सर्ग में सर्व परद्रव्यों का उत्सर्ग- यहाँ यह शंका नहीं करनी है कि शरीर से तो ममता छोड़ दें और अनेक बाह्यपदार्थों में ममता करते रहें। प्रथम तो ऐसा हो ही नहीं सकता कि पुरुष धन, मकान, इज्जत आदि धनादिक बाह्य अन्य द्रव्यों में तो ममता रहे किन्तु शरीर में न रहे। जो किसी भी परतत्त्व में ममता करते हैं उनके इस शरीर की ममता अवश्य है। चाहे कुछ व्यवहार में यह बात न मालूम पड़े लेकिन शरीर की ममता हुए बिना बाह्य तत्त्वों में ममता हो ही नहीं सकती। फिर दूसरी बात यह है कि जितने भी परपदार्थ हैं, जो ममता के विषय बन सकते हैं उन सब परपदार्थों में अग्रगण्य कष्ट का कारण शरीर है। जब शरीर की ममता का त्याग करने को कहा जाय तो उसका अर्थ है कि सभी की ममता का परिहार करना चाहिए। कोई पुरुष अपने बच्चे से यह कह जाय कि देखो यह दही रखा है ना, इसे देखते रहना बिल्ली न खा जाय और वह मंदिर चला जाय। अब वह बच्चा केवल बिल्ली को ही देखे और चाहे दसों कौवे आकर दही खा जायें तो क्या वह कौवे को खा लेने देगा? अरे ! उसका अर्थ यह है कि बिल्ली और बिल्ली जैसे जितने भी दधिभक्षक प्राणी हैं वे न खा जाय। इसी प्रकार जब यह कहा जाय कि शरीर से ममता न करना, तो क्या इसका यह अर्थ है कि धन, मकान आदि से ममता करते रहना? अरे ! इसका अर्थ है कि शरीर और शरीर जैसे समस्त बाह्य पदार्थों में ममता न करना।

प्रमुख के त्याग में गौण के त्याग का भी समावेश- जैसे दधिभक्षकों में सबसे खतरनाक बिल्ली है और वह घर में रहा करती है इसलिए बिल्ली का नाम लिया गया है, पर बिल्ली का नाम लेने से सभी दधिभक्षकों की बात समझ लेनी चाहिये, इसी प्रकार ममता के विषयभूत पदार्थों में सबसे प्रधान शरीर है और यह एकक्षेत्रावगाही है, निकट रहने वाला है, इसका परित्याग कराया गया है तो इसका अर्थ यह है कि समस्त परपदार्थों की ममता का परिहार करें।

निश्चय और व्यवहार कायोत्सर्ग- शरीरादिक में ममता का परिहार करना, सो निश्चय कायोत्सर्ग है। व्यवहार कायोत्सर्ग खड़े हो जायें अथवा पद्मासन से ही विराजे हों ऐसी मुद्रा रखना कि इस शरीर की ओर ध्यान नहीं रख रहे हैं, अथवा मच्छर आदिक कोई जन्तु काटे भी तो भी चिगना नहीं, काय से ममता नहीं है, ऐसी मुद्रा का जो परिणाम है, वह बनाये रहना, यह है व्यवहारकायोत्सर्ग।

कायोत्सर्ग के अर्थ का विवरण- काय नाम है इस दृश्यमान् पिंड का, जो आदि सहित है, कभी से उत्पन्न हुआ है, अंत सहित है, कभी इसका खात्मा हो जायेगा। मूर्तिक है, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का पिण्ड है, ऐसी जो विजातीय विभावव्यन्जन पर्याय है तन्मात्र जो जीव का आकार बन गया है अथवा इस जीव का जो एक पर्याय बन गया है इसे काय कहते हैं। जीव तो इस काय के स्वरूप से विपरीत है। यह शरीर आदि सहित है तो जीव आदि रहित है। इस जीव की उत्पत्ति कभी नहीं हुई, यह स्वत:सिद्ध वस्तु है। शरीर का अन्त होगा, किन्तु इस जीव का कभी अन्त न होगा, यह अनन्त है। यह शरीर मूर्तिक है, रूप, रस, गंध, स्पर्श का पिंड है, सड़ने वाला है, किन्तु यह जीव अमूर्त है, इसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं हैं। न सड़ता है, न गलता है, न जलता है। यह आत्मा तो अपने स्वरूपमात्र है, ऐसा शुचि होने पर भी कर्मउपाधि के वश में जो पर्यायें प्रकट हुई हैं, नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव गतियों के देहों के आकार जो बन गए हैं वे सब काय हैं। काय का परिहार करना, काय में ममत्व न करना, सो कायोत्सर्ग है। 'आदि'

शब्द से मकान, खेत, स्वर्ण कुटुम्ब सभी परद्रव्यों की बात जानना, इन सबसे ममता न होना, इसे कहते हैं कायोत्सर्ग।

यथार्थ परिणाम के बिना धर्मपालन का अभाव- भैया ! कायादिक सब स्थिर भाव को छोड़ दें, इतना भर जानते रहें कि ये सब नष्ट होने वाले हैं तो भी ममता कम हो जायेगी। धन नहीं छोड़ा जाता है न सही, किन्तु जो सच बात है यह अनित्य है, भिन्न है, जो यथार्थ बात है उतनी बात मानने में भी कष्ट है क्या? मकान नहीं छोड़ा जाता न सही, पर यह मकान ईंटभींटों का है, इसमें मेरा कुछ स्वरूप नहीं लगा है, यह भिन्न चीज है, मिट जायेगी, इससे बिछुड़ना होगा, यह बात सत्य है या असत्य? यदि सत्य है तो इतनी बात मानने में क्या कठिनाई हो रही है? मोही जीव अनित्य को नित्य मान रहे हैं। भले ही वे वचनों से कभी-कभी कह दें कि सब असार हैं, कुछ रहने का नहीं हैं, पर अन्तर में स्पष्ट बोध नहीं होता है। जैसे कोई मर जाय तो मरघट में सभी कहते हैं कि सबको एक दिन मरना है, पर मुख से कहा जाता है, अपने बारे में स्पष्ट बोध यह नहीं हो पाता कि मैं भी किसी दिन मर जाऊँगा, ऐसा भीतर में अनुभूत नहीं होता है। वचनों से बोला जाता है, किन्तु जिसे लगन बोलते हैं वह इस तरह की लगन नहीं है। इन शरीरादिक परद्रव्यों को इतना तो मानना ही मानना कि ये सब मिट जाने वाले हैं, मेरे साथ सदा न रहेंगे, इतनी बात मान लो तो आपने धर्म पालन का प्रारम्भ किया।

धर्म का सहजसिद्ध स्थान- धर्म का पालन किसी मंदिर में, क्षेत्र में, किसी भी जगह नहीं है कि वहाँ बैठे हों और धर्म मिल जाय या वहाँ हाथ पैर का परिश्रम करें तो मिल जाय। धर्म तो आत्मा के स्वभाव का नाम है, वस्तुवों के यथार्थ परिज्ञान का नाम है। मंदिर में भी रहकर, तीर्थयात्रा में भी जाकर यह श्रद्धा बनायी जा रही है कि यह मेरा घर है। अरे ! एक महीना घर छोड़े हो गया, लल्ला क्या करता होगा? अब तो जल्दी चलें, कितनी ही भीतर में ऐसी प्रतीतियां बनी हुई हैं। जहाँ अनित्य में नित्य की श्रद्धा है, भिन्न में आत्मीयता की श्रद्धा है यह वासना बनी है तो धर्मपालन कहाँ से हो जायेगा? यह सब दिल का बहलावा है। यदि परमार्थ पद्धति से ज्ञान नहीं है सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं है, वस्तुस्वरूप पर दृष्टि नहीं है तो समझ लीजिए कि यह सब दिल का बहलावा है। पूजा कर आए, दर्शन कर आए, मन रम गया। सो थोड़ीसी मंदकषाय तो अवश्य है, परन्तु साथ ही साथ दिल बहलाने का प्रयोजन लगा हुआ है, धर्मपालन नहीं हो रहा है, धर्मपालन तो रत्नत्रय की साधना बिना नहीं हो सकता है।

अनित्य में अनित्यत्व की श्रद्धा का प्रताप- भैया ! कम से कम इतना तो मान ही लेना चाहिए कि मेरे इस ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का एक इस आत्मस्वरूप को छोड़कर अन्य सब कुछ नहीं है, जो कुछ मिले हैं ये परपदार्थ नियम से छूटेंगे, साथ सदा न रहेंगे, इतनी बात भीतर में विश्वास सहित मान लो तो इस जैन धर्म का पाना, श्रावक कुल का पाना भी सफल है, और जैसे जन्मे, बड़े हुए, ममता करते आये, वैसी ही ममता बनी रही, सम्यक्त्व का कुछ प्रकाश न हो सका तो बतावो धर्मपालन कहाँ हुआ? मनुष्यजीवन की सार्थकता कहाँ रही? यों तो अनन्त भवों से कीड़े, मकौड़े, पशु, पक्षियों से निकलते आये हैं, जन्मे और मरे, उसही पद्धति में यह मनुष्य भव भी निकल जायेगा, जन्मे और मरे। कोई तत्त्व की बात नहीं मिल सकती। यह समागम कुछ दिनों का है, मिट जायेगा और साथ ही ममता करने का जो पाप है वह ले जायेगा। इन बाह्य पदार्थों में यह श्रद्धा बनावो कि ये मिट जायेंगे। इस शरीर में बस रहे हैं फिर भी यह श्रद्धा रखें कि यह भिन्न है, सदा रहने वाला नहीं है और मैं आत्मा सदा रहने वाला हूं, जिसमें किसी भी परतत्त्व का प्रवेश नहीं है। यह ज्ञानानन्दमात्र है, ऐसे निज कारणपरमात्मतत्त्व को ध्यावो।

सहज अध्यात्मयोग एवं निश्चयप्रायश्चित- इस आत्मा के ध्यान करने का कारण है सहज अध्यात्मयोग, जिस योग में विकल्पों का कोलाहल नहीं है, निर्विकल्प है, व्यवहार क्रियाकाण्डों का कुछ आडम्बर नहीं है, केवल एक ज्ञान द्वारा ज्ञानस्वरूप का ग्रहण हो रहा है। इस प्रकार के सहज अध्यात्मयोग के बल से इस आत्मतत्त्व का जो ध्यान करता है वही सहज तपश्चरण का अधिपति है, उसके ही निश्चयकायोत्सर्ग होता है। यह उपयोग जब केवल शुद्ध कारणसमयसार में अपने चैतन्यस्वरूप में लगता है वहाँ ही वास्तव में कायोत्सर्ग होता है। किसी परद्रव्य का विकल्प न उत्पन्न हो, वह तो सहज वैराग्य से भरपूर है, ऐसा योगी पुरुष का जो यह कायोत्सर्ग है उसको ही निश्चय प्रायश्चित्त कहते हैं।

योगीश्वरों के सतत कायोत्सर्ग की वृत्ति- जो योगीश्वर अपने आत्मा में लीन रहते हैं उनके तो निरन्तर कायोत्सर्ग बना हुआ है, ऐसे संतपुरुष लेटे हों अथवा बैठे हों अथवा ईर्यासमिति से चल रहे हों तब भी अध्यात्मयोग के समय उनके कायोत्सर्ग बना रहता है। इन संयमी पुरुषों को कायसम्बन्धी क्रियावों का भी लेप नहीं है, ये योगीश्वर जनसमूह में रुचि नहीं रखते हैं। भले ही रहना पड रहा हो, फिर भी उनसे विविक्त ही रहते हैं और यथावसर प्राय: निर्जन एकांत में ही निवास करते हैं, उनको वाणी बोलने की आस्था नहीं है अर्थात् वे वचन बोलने की क्रियावों को आत्महित नहीं मानते हैं। जो मन से किसी भी प्रकार के विकल्पों को करने में उत्सुकता नहीं करते हैं; जो मन, वचन, काय इन तीन गुप्तियों का पालन करते हैं उनके ही परमार्थ आत्मध्यान होता है और उन योगीश्वरों के निरन्तर कायोत्सर्ग प्रवर्तित रहता है।

धर्म और धर्मपालन- भैया ! धर्मपालन के लिए सर्वत्र एक ही काम करना है, निज सहज शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप की दृष्टि करना है और यह धारणा रखनी है कि मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूं, यह सहज ज्ञानानन्दस्वरूप चैतन्यतत्त्व सतत-प्रकाशमान् है, इसे ढूँढ़ने कहीं नहीं जाना है। यही अपने आपको भूलकर बाह्य की दृष्टि लगाये फिरता है। यह अपना परमशरण, शान्ति का निधान जिसके आश्रय से आनन्द उत्पन्न होता है उसकी दृष्टि से यह योगी पुरुष भव-भव के संचित कर्मों को दूर करता है। जगत् में कहीं कोई शरण नहीं मिलेगा। सभी परपदार्थ हैं, अपने को अपना स्वरूप ही शरण है। जब इस देह से भी भिन्न अपने आपके यथार्थस्वरूप का भान होता है वहाँ संकट एक भी नहीं ठहर सकता है। कोई ममता करता है तो ममता ही संकट है, ऐसी स्थिति में अन्य की परिणति को संकट कहना बेकार है। मैं अपने ही स्वरूप से चिगकर ममता परिणाम में आया, वही एक संकट है। कम से कम इतना तो निर्णय रखो कि जो कुछ यह समागम है न यह कुछ मेरा है और इन समागमों के सम्बन्ध में जो ख्याल बना हो वह ख्याल भी मेरा कुछ नहीं है। मैं तो परमब्रह्मस्वरूप सदा ज्ञानानन्दमय प्रवर्तने वाला आत्मा हूं।

नि:संकट सहजानन्द अन्तस्तत्त्व की उपासना का अनुरोध- ये संसार के सुख केवल कल्पनामात्र में रमणीक लगते हैं। यह संसार का सब कुछ मेरे ग्रहण करने के लायक नहीं है। जो संसार के सुखों का ग्रहण करेगा वह जन्ममरण के दु:ख पाता रहेगा। क्या वजह है कि जब सभी जीव एक समान हैं तो उन अनन्त जीवों में से दो-चार जीवों को जो अपनी कुटिया में रहते हैं उन्हें मान रक्खा है कि ये मेरे हैं और उनके अलावा बाकी सब जीवों को गैर मान लिया। भले ही गृहस्थावस्था में हैं, उनका पोषण करना है, यह बात तो अलग है, किन्तु अंतरंग में ऐसी श्रद्धा जमी हो कि यह मेरा है तो यह श्रद्धा निरन्तर दु:ख ही करती रहेगी। कितनी ही सुख-सामग्री मिलती जाय, कितना ही धन वैभव हो जाय, पर विपरीत श्रद्धान है तो दु:खों से मुक्ति नहीं हो सकती। कुछ न कुछ कल्पनाएँ बनाकर सब जगह यह दु:ख मानता रहेगा। यह आत्मतत्त्व तो समस्त संकटों से स्वयं ही मुक्त है, यह तो अपने पर संकट लादता है, जो पुरुष नि:संकट

राग, द्वेष, मोह से रहित केवल प्रकाशमात्र अपने आपका स्वरूप निरखते हैं वे पुरुष क्लेशमुक्त अब भी हैं।

ज्ञानप्रकाश का सामर्थ्य- भैया ! कल्याणार्थ में इन भवसुखों का भी अंतरंग से परित्याग करता हूं, ऐसा उत्साह तो हो। नहीं छोड़ सकते वह बात अलग है किन्तु यथार्थ ज्ञान में ही इतनी सामर्थ्य है कि वह आकुलतावों को दूर कर देता है। जैसे सूर्य के प्रकाश में इतनी सामर्थ्य है कि कमल को प्रफुल्लित कर देता है। न भी सूर्य का प्रकाश आया हो, दोपहर तक सूर्य नहीं निकला है किंतु सूर्य निकलने के समय जब आसमान में लाली छा जाती है उस ही समय ये कमल प्रफुल्लित हो जाते हैं। न हो सके चारित्र, न हो सके त्याग, लेकिन सच्चा ज्ञान का प्रकाश यदि आत्मा में आया हो तो यह आत्मा उसी समय से त्याग चारित्र की ओर आने लगता है, संकटमुक्त होने लगता है। मैं उसे ही अपना परमशरण, परम सर्वस्व मानता हूं, ऐसा उसके दृढ़ निर्णय है, ऐसे भले निश्चय के साथ जो अपने आपमें विश्राम लेता है वह संसार के संकटों से छूट जाता है।

अन्तस्तत्त्व के परिचय बिना क्लेशों का उपभोग- अहो ! मैं इस परमब्रह्म प्रभु परमात्मा को जो मेरे अन्तर में विराजमान् है उसे मैंने नहीं जाना था, इसी कारण से बाह्य में उपयोग दौड़ने का संकट भोगा है। यह मोही जीव मानता तो यह है कि लोक का वैभव मिल गया, विशेष धन इकट्ठा हो गया, मैं प्रभु बन गया हूं, मैं समर्थ हो गया हूं, मैं सबसे उत्कृष्ट हूं लेकिन यह नहीं समझता कि यह वैभव दुष्कर्म की प्रभुता बढ़ाता है, आत्मा की प्रभुता नहीं बढ़ाता है। रागद्वेष, संकल्प, विकल्प की परेशानियों से यह जीव बरबाद हुआ है, हैरान हुआ है ऐसा इसने नहीं माना है और तृष्णावश बाह्य वैभव के संयोग में अपने आपको महान् समझता है, इसी से संसरण का संकट भोगता है।

विषफल के उपयोग के अपराध के परिहार के लिए निश्चयप्रायश्चित- ये समस्त फल जो पृथ्वीकाय, वनस्पति काय, कंचनकामिनि, कुटुम्ब, धन सम्पदा जो कुछ नजर आते हैं ये संसार विषवृक्ष के फल हैं। जैसे विषवृक्ष के फलों को कोई खाये तो ये विषवृक्ष फल भले ही उस काल में मीठे लगें, लेकिन वे प्राण हरने वाले होते हैं, इसी प्रकार यह जीवलोक का ठाठ वैभव भले ही मोहवश इस मोही जीव को रुचिकर मालूम हों, लेकिन ये बड़े क्लेश संताप के कारण होते हैं। इन सब विषवृक्षों के फलों को त्यागकर, पंचेन्द्रिय के भोगों का परित्याग कर इस ही चिदानन्दस्वरूप निज आत्मतत्त्व में रमकर विशुद्ध आत्मीय आनन्द का अनुभव करूँगा, ऐसा यह ज्ञानी उन समस्त अपराधों को नष्ट करने के लिए निश्चयप्रायश्चित कर रहा है, निश्चय नियम कर रहा है, अपने आपको अपने आत्मा में नियमित करके सदा संकटों से छूटने का पुरुषार्थ कर रहा है।

नियमसार प्रवचन अष्टम भाग सम्पूर्ण